अष्टछापीय भक्ति संगीत

उद्भव और विकास

खण्ड १–२

कीर्तनाचार्य, उस्ताद
चम्पकलाल छबीलदास नायक

अष्टछाप संगीत कला केन्द्र
अहमदाबाद--१४

प्रकाशक :
चम्पकलाल छ. नायक
अष्टछाप संगीत कला केन्द्र
६०, नायकनगर,
अहमदाबाद-३८० ०१४
(गुजरात)

मुद्रण व्यवस्थापक :
श्री वल्लभ प्रकाशन इन्दौर के लिए
मंत्री, डॉ. गजानन शर्मा

प्रथम मुद्रण : प्रतियाँ १०००

वि. संवत २०३९
ई. सन् १९८३

मूल्य : रु. [illegible]/-
५०/

मुद्रक :
नईदुनिया प्रिंटरी
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००९

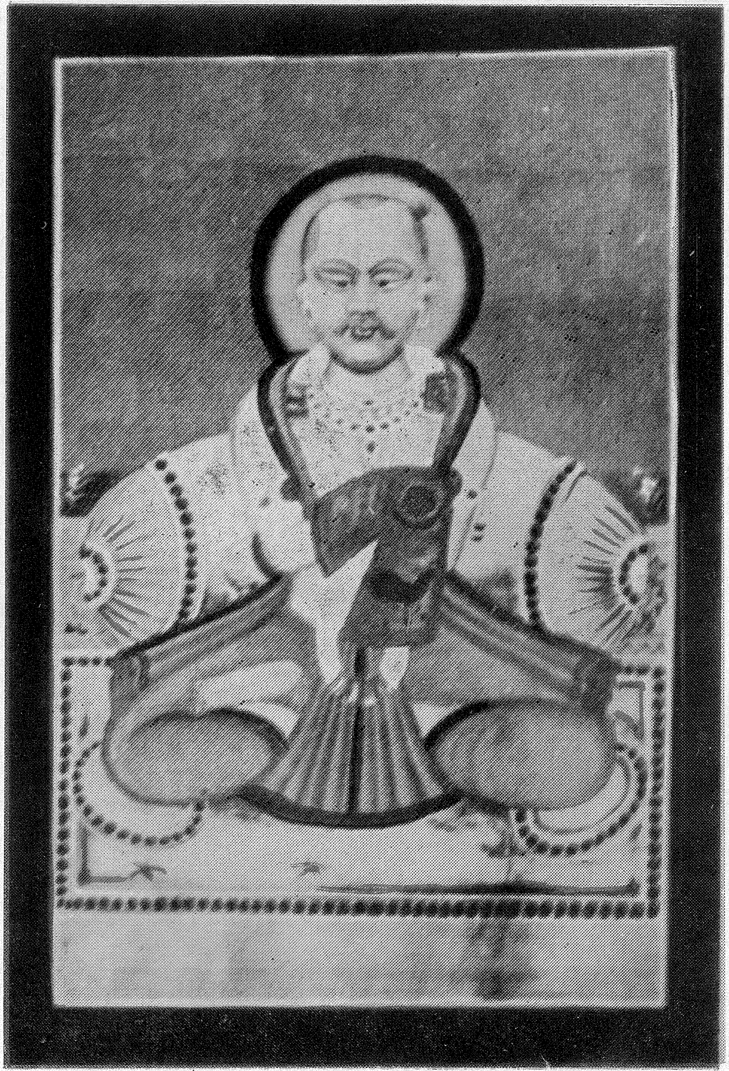

अष्टछाप के संस्थापक, गीत-संगीत-सागर

परमकृपालु श्रीविट्ठलनाथ गुसांईजी

श्री गुसांईजी-परमदयालवे नमः ।

यदनुग्रहतो जन्तुः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।
तमहं सर्वदा वन्दे श्रीमद्वल्लभनन्दनम् ।।

समर्पण

चरणचञ्चरीक
चम्पकलाल छ. नायक

आमुख

'अष्टछापीय भक्ति संगीत, उद्भव और विकास' इस शीर्षक से संगीतप्रिय लोगों के समक्ष प्रकाशित स्वरूप में यहाँ रखकर हवेली संगीत के परम्परागत कीर्तनकार और उत्तर हिन्दुस्तान की संगीत पद्धति के भी गण्यकोटि के उस्ताद आचार्य श्री चम्पकलाल नायक, 'संगीत विशारद' ने श्री वल्लभ संप्रदाय के कीर्तनकारों एवं कीर्तन प्रिय महानुभावों पर तो बड़ी कृपा की ही है, उपरान्त संगीत के चाहक अन्यान्य सहृदय एतद्देशीय एवं इतरदेशीय सभी मुणज्ञों पर भी कृपा की है। श्री नायक ने सिर्फ साम्प्रदायिक कीर्तन प्रणाली का ही दर्शन करवाया इतना नहीं है, भारतवर्ष में संगीत विद्या का किस समय में कौन से माध्यम द्वारा उद्भव और विकास हुआ था वह बताने का भी प्रशस्य प्रयत्न किया है।

हम अब अच्छी तरह से जानते हैं कि सात स्वरों की बाईस श्रुतियों का सम्पूर्ण ज्ञान सामवेद के काल तक प्राचीन है। न केवल गान, वाद्य में भी इन बाईस श्रुतियों का पार्थक्य स्पष्ट होता था, जोकि वीणा जैसे सम्पूर्ण वाद्य से होता था। यह ध्यान में लेने जैसी बात है कि न प्राचीन समय में, न तो समय के व्याप में आगे बढ़ते-बढ़ते भी पृथ्वी पर के किसी भी देश में बाईस श्रुतियों का पार्थक्य न तो गान में, न तो स्वर वाद्य में कभी भी हुआ था और न आज भी है।

भारतवर्ष की पवित्र भूमि में जब लम्बे सत्रों के यज्ञयागादिक होते थे तब रात्रि के निवृत्ति के समय में थकावट दूर करने के लिए नाट्य, नृत्त-नृत्य और गान होते थे। आनन्द और आश्चर्य की बात तो यह है कि गान के लिए ऋग्वेद के सूक्तों में से जो सूक्त पसन्द किये जाते थे वे किसी लौकिकजन की प्रशस्ति के सर्वथा नहीं नहीं थे। प्रकृति के विभिन्न भावों को मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने जिस स्वरूप में लक्षित किया था, उनमें इन्द्र अग्नि, वायु, यम, नासत्य आदि देवों की संज्ञा देकर ऐसे देवों की प्रशस्ति की जाती थी। सामवेद के प्रायः सभी सूक्त ऋग्वेद में से ही लिए गए हैं और जाति रागों में ताल और लय से गाये जाते थे। आज हमारे वहाँ गायकों के घराने दीख पड़ते हैं। सामगान के समय में ऐसे घराने थे। सामान्य स्वरूप में तो सूक्त एक ही गान पद्धति से गाये जाते थे। किन्तु कितनेक सूक्त ऐसे भी जानने में आये हैं, जिनका गान दो से लेकर साठ तरह से होता था। ये सभी तरह हकीकत

में अलग-अलग गायक ऋषियों के घराने थे। सामवेद को 'सहस्रवर्त्मा' कहा है वह इसी अर्थ में। 'हजार शाखा' नहीं, 'हजार घराने' थे, जिनमें से एक मन्त्र साठ तरहों तक पहुँचा प्राप्त होता है। देखिये–कौथुमी शाखा की साम-मन्त्र-संहिता में १८७५ ऋचा हैं, किन्तु गान २७२२ हैं; जैमिनीय शाखा की मन्त्र-संहिता में १६९३ ऋचा हैं, किन्तु गान ३६३२ हैं। यों, ये दो शाखाएँ मिलकर ६४०३ गान प्रकार देती हैं। नष्ट हुई शाखाओं के गानों के विषय में आज कुछ बचा प्राप्त होता नहीं है।

सामगान किस प्रकार से होता था उसका खयाल हमें 'नारदीय शिक्षा' से मिलता है। बाद में तो शास्त्रीय गान के विषय में हमारे समक्ष ईसा की पहली दूसरी शती के भरत नाट्य शास्त्र से आता है। वहाँ किसी भी राग की संज्ञा दी गई नहीं है, गाये जाते राग 'जाति-राग' से उल्लिखित हैं। एक और विशिष्टता वहाँ मिलती है वह 'ध्रुवा' गानों की। वहाँ अनेक ध्रुवाएँ मिलती हैं, जोकि प्रत्येक गेय चीज की आरम्भ की मुखबन्ध प्रकार की रचना है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'मालविकाग्निमित्र' नाटकों में गेय गान मिलते हैं, तो 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में प्रक्षिप्त मानी गई संख्याबन्ध ध्रुवाएँ भी अपभ्रंश भाषा में दी गई मिलती हैं, जोकि सर्वथा गेय प्रकार की हैं।

श्री चम्पकलालजी ने भारतीय संगीत का इतिहास प्रस्तुत करते समय इस ग्रन्थ के आरम्भ के ४४ पृष्ठों में अच्छा प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

संगीत के मूल में सामगान से लेकर भक्ति ही रही है और जयदेव, विद्यापति आदि भक्त कवियों ने गेय पदों की रचना देकर भक्तिसंगीत को प्राधान्य दिया है। अष्टछापीय भक्त कवियों के पास यही परम्परा है। इन सबों ने संगीत शास्त्र के उत्तरकालीन मध्यकाल के ग्रन्थों में कहे गये रागों में अपनी रचनाएँ गाई हैं। अष्टछापीय कवियों के पूर्व गुजरात में भी जैन भक्त कवियों एवं नरसिंह मेहता जैसे भक्त कवियों ने नाम देकर रागों का गान किया है, जो सभी शास्त्रीय राग हैं।

श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुजी ने श्री गोवर्धन गिरि पर मथुरा प्रदेश में कृष्ण भक्ति के उपलक्ष्य में श्री गोवर्धनधरण श्री नाथजी का सेवाक्रम शुरू किया तब से उनके चार शिष्य कुम्भनदास सूरदास, परमानन्ददास और गुजराती कृष्णदासजी ने समय-समय का खयाल करके भगवान कृष्ण की विविध लीलाओं का गान अनेक रागों में और अनेक तानों में किया। श्रीवल्लभाचार्यजी के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथ गुसांईजी ने उस प्रणाली को प्रबल बल दिया और उनके भी चार शिष्यों गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी और नन्ददास ने कीर्तन गान अविरत किया। इन आठ महानुभाव भक्त कवियों को ही 'अष्टछाप' संज्ञा दी गई है और समग्र पुष्टिमार्गीय कीर्तन सामग्री के पुरस्कारक ये आठ महानुभाव कहे हैं। श्री वल्लभाचार्यजी और श्री विट्ठलनाथजी के अन्य भी शिष्य थे, जिन्होंने भी नये-नये कीर्तनों की रचना

करके सैकड़ों की संख्या में भगवान की लीलाओं को उद्दिष्ट करके गान किया है, किन्तु पुरस्कारक तो वे अष्टछाप के आठ भक्त कवि होने के कारण इस संगीत को संज्ञा 'अष्टछापीय भक्ति संगीत' मिली है। उसको 'पुष्टिमार्गीय भक्ति संगीत' भी कहा जाता है और पुष्टिमार्गीय हवेलियों में प्रभु के समक्ष गाये जाने के कारण 'आकाशवाणी' पर उसकी संज्ञा 'हवेली का संगीत' मिलती है।

श्री चम्पकलालजी ने इस प्रौढ़ संगीत के विषय में यावत्प्राप्य वस्तुओं का परिचय सुलभ किया है। यह मात्र इतिहास नहीं है, शास्त्र भी है, यह दूसरे खण्ड से स्पष्ट होगा। और अलग प्रकाशित होने वाले तीसरे खण्ड में गेय पदों का रागवार स्वरांकन भी दिया गया है।

कहने में गौरव होता है कि आचार्य चम्पकलालजी अष्टछापीय भक्ति संगीत के तो आरूढ़ कीर्तनकार हैं ही, वे उत्तर हिन्दुस्तान की संगीत पद्धति के भी उच्च प्रकार के उस्ताद हैं। उन्होंने इस पिछली पद्धति के शिक्षण का आरम्भ तो बड़ौदा के 'रंगील घरना' में किया। बाद में संस्कृत भाषा और संगीत विद्या के मूर्धन्य विद्वान स्व. पं. भातखण्डेजी की अभिनव संस्कृत गान पद्धति की परम्परा का लाभ भी उनको मिला। पं. भातखण्डेजी के प्रधान शिष्य स्व. पं. वाड़ीलाल शिवराम नायक अहमदाबाद में केलिको मिल्स वाले स्व. शेठ श्री अम्बालाल साराभाई की पुत्री श्रीमती गीता बहन को पढ़ाने के लिए आ बसे तब श्री चम्पकलालजी को उनके पास प्रत्यक्ष शिक्षण लेने का लाभ मिला। गुजरात में पं. भातखण्डेजी की विद्वत्परम्परा के विद्वानों में श्री चम्पकलालजी का स्थान आज मूर्धन्य है।

उनकी स्वरों की पकड़ इतनी प्रबल है कि गाने वाले गायक की तरज को वे लघुलिपि (Short Hand) की गति से अंकित कर लेते हैं। ऐसे विद्वान गायक मिलना आज तो दुःशक्य बन गया है।

संगीत प्रेमियों का यह सद्भाग्य है कि ऐसे आरूढ़ संगीताचार्य की कलम से से हमें यह ग्रन्थ प्राप्त हो रहा है।

यहाँ मैं मेरी विज्ञप्ति से इस ग्रन्थ के मुद्रण को प्रोत्साहन देने वाले महाभानुभावों को याद करना समुचित समझता हूँ।

१.	गो. श्री नटवरगोपाल महाराज (द्वारका)	रु. ५०००/-
२.	श्री वल्लभ विश्वधर्म संस्था (अहमदाबाद)	रु. ५०००/-
३.	श्री अमितभाई अम्बालाल शाह (,,)	रु. २५००/-
४.	गो. श्री व्रजरायजी महाराज (,,)	रु. २०००/-

५.	श्री जयबदन अ. तख्तावाला	(,,)	रु. १०००/-
६.	श्री प्रभुदास बा. पटवारी	(,,)	रु. १०००/-

इन सबों का कला केन्द्र, श्री चम्पकलाल छ. नायक और मेरी ओर से आभार व्यक्त करता हूँ।

केशवराम का. शास्त्री

मधुवन, एलिस ब्रिज,
अहमदाबाद-३८०००६

दिनांक २१-५-८३

अष्टछापीय भक्ति संगीत (हवेली संगीत) उद्भव और विकास

अनुक्रमणिका : प्रथम खंड

भारतीय संगीत प्राचीन युग : वेदकाल **1-18**

संगीत की महत्ता 1
सप्तस्वरों का उद्भव 1–2
वाद्य 2–6
ताल 6
नृत्य 7
भक्ति तत्त्व 8
ब्राह्मण-आरण्यकों में संगीत 8–11
उपनिषदों में संगीत और भक्ति 11–12
सूत्रों में संगीत और भक्ति 15–18

भारतीय संगीत प्राचीन युग : महाकाव्य, पुराण, भरतनाट्यशास्त्र **19–51**

महाभारत-रामायणकालीन संगीत 19–26
नारदीय शिक्षा 27–29
पौराणिक युग 30–34
बौद्ध-जैन-वाङ्मय में संगीत 34–38
तामिल ग्रंथ सिलाप्पदिकरम् 38
भरतनाट्यशास्त्र 39–44
द्रविड़ देश का संगीत 45–51

भारतीय संगीत मध्ययुग : भक्ति क्षेत्र 52–65
- जयदेव 52–56
- विद्यापति 57–60
- चंडीदास और नामदेव 60
- नरसिंह 60–62
- रामानंद 62
- कबीर 63
- गोपाल नायक 63
- अमीर खुसरो 63–65

भारतीय संगीत : भक्ति के नवोत्थान के संदर्भ में 66–105
- पुष्टिमार्गीय संगीत का प्रारंभ : श्रीमद्वल्लभाचार्य 72–77
- स्वामी हरिदास 78–83
- स्वामी हरिदास की शिष्य परम्परा 84–86
- गोस्वामी हितहरिवंश 86–90
- हितहरिवंश की शिष्य परम्परा 90–97
- राधावल्लभीय समाजगान एवं सेवा 98–100
- रास-परम्परा का आरम्भ 100–105
- चैतन्य महाप्रभु परिशिष्ट

पुष्टिमार्गीय संगीत : श्री विट्ठलेश युग 106–196
- कुम्भनदासजी 131–138
- सूरदासजी 139–145
- कृष्णदासजी 146–154
- परमानन्ददासजी 155–160
- गोविन्द स्वामी 161–167
- छीतस्वामी 168–171

चतुर्भुजदासजी 172–177

नन्ददासजी 178–188

धोंधी 189–190

तानसेन 191–193

राजा आसकरण 194

गंगाबाई 195

अष्टछाप पदगान में वाद्य 196

पुष्टिमार्गीय संगीत : श्री गोकुलेश युग 197–202

पुष्टिमार्गीय संगीत : श्री हरिराय युग 203–209

ध्रुपद 207–209

पुष्टिमार्गीय संगीत : श्री द्वारकेश युग 210–223

सदारंग 211

अदारंग 212

कीर्तन का नित्यक्रम 213–215

वर्षोत्सव प्रणाली 215–219

छाकलीला 219–221

हिंडोरा के भेद 221

ऋतु अनुसार राग 221–223

पुष्टिमार्गीय संगीत और भारतीय संगीत-घराने

भारतीय संगीत के घरानों में हवेली संगीत का प्रचार 33–84
(द्वितीय खंड में)

अनुक्रमणिका : द्वितीय खंड

रागाध्याय **1–32**

राग और राग संख्या 1–23

राग, रस और नायक-नायिका-भेद 24–32

भारतीय संगीत के घरानों में हवेली संगीत का प्रचार **33–84**

तालाध्याय **85–106**

ताल विवरण 85–94

उत्तरभारतीय ताल 94–99

हिन्दुस्तानी पद्धति के प्रचलित तालों का विवरण 100–106

परिशिष्ट

1. मृदंगाचार्यों का परिचय 107–110

2 हवेली संगीत 111–116

3. पुष्टि कीर्तन संगीत के अभ्यासियों को मार्गदर्शन 117–119

4. कीर्तन मर्मज्ञ गोस्वामी महाराजों का परिचय 120–129

5. भवाई और उसका स्वरूप 130–132

6. संगीतशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का भावार्थ 133–134

7. हवेली संगीत के वाद्यों का परिचय 135–137

7. षड्ऋतु के कीर्तन संगीत से भक्तों का लीला-संबंध 138–140

प्रास्ताविक

संगीतरत्नाकर में नादस्थान-स्वर प्रकरण के प्रारम्भ में ही कहा है:—

"चैतन्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना ।
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे ।।१।।

जो सर्व प्राणियों का चैतन्य है, जगद्रूप से विवृत हुआ है, जो आनन्दमय और एक है उस प्रसिद्ध नाद ब्रह्म की हम उपासना करते हैं।

शास्त्रों में नाद को ब्रह्म कहा है । "नादो ब्रह्म न संशयः" । नाद के दो प्रकार हैं—

"आहतोऽनाहतोश्चेति द्विधा नादो निगद्यते"

अनाहत नाद की साधना ज्ञानगोचर है, जिसकी साधना और उपासना से ऋषिमुनि-योगीजनों को ब्रह्म की प्राप्ति होती थी।

"शब्दब्रह्म व्यतिरेकेण परब्रह्मःप्रकाशनं न भवति । शब्दब्रह्मणैव परब्रह्म प्रकाश्यते स्वप्रकाशमपि ।"

शब्दब्रह्म के बिना परब्रह्म का प्रकाशन नहीं होता । परब्रह्म स्वप्रकाशित होते हुए भी शब्दब्रह्म बिना प्रकाशित नहीं होता ।

"नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः ।।

नादब्रह्म की उपासना से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की उपासना आप ही आप हो जाती है, क्योंकि ये नाद से भिन्न नहीं हैं।

संगीत पारिजात में कहा है: "वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाऽप्रयासेन मोक्षमार्ग स गच्छति ।।"

वीणा वादन के तत्त्व को समझने वाला, श्रुति-स्वरों के जाति-भेद के ज्ञान में निपुण तथा ताल के मात्रा काल को जानने वाला पुरुष बिना ही योग-यागादि प्रयास के मोक्ष मार्ग में जाता है। इसके पूर्व की पंक्ति में कहा है कि "गायन सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्म्माणि च यानि लोके । गीतानि नामानि तदर्थिकानि गायत्यलज्जो विचरत्यसङ्गः ।।

चक्रपाणि भगवान ने इस लोक में जो अवतार धारण किये हैं और उन अवतारों में किये हुए कर्म अर्थात् चरित्रों के अनुकूल नामों को सार्थक करने वाले

गीत अर्थात् वे गायन जिनमें किसी चरित्रानुकूल नामों का तदर्थात्मक गुणानुवाद किया गया हो ऐसे गीतों का जो मनुष्य गायन करता है, वह निःसंकोच भाव से असंग होकर चारों ओर घूमता है । भावार्थ स्पष्ट है कि भगवद् गुणानुवाद का गायन करने वाले को किसी का भय नहीं है । भगवान की कृपा से वह भगवद् गुणगान का प्रेमी निर्भय होकर प्रेमोन्मत्तावस्था अर्थात् पागल जैसा बन जाता है और धीरे-धीरे राग-द्वेषादि लौकिक बन्धन छूट जाने पर निःसंकोच वह सच्चा सुख भगवत्प्राप्ति का प्राप्त करता है ।

संगीत शास्त्र ग्रंथों के अतिरिक्त हमारे वेद श्रुति पुराणादि धर्मशास्त्रों में भी इस प्रकार के सैंकड़ों उदाहरण प्राप्त होते हैं ।

प्राचीनकाल से संगीत का वास्तविक ध्येय आत्मकल्याण मोक्ष एवं भगवदुपासना ही है और उसीको सिद्ध करने के लिये संगीत से बढ़कर कोई सरल साधन नहीं है ।

"पूजाकोटिगुणं स्तोत्रं स्तोत्रात्कोटिगुणो जपः :
जपात्कोटिगुणं गानं गानात्परतरं नहि ।।"

पूजा से स्तोत्र करोड़ गुना श्रेष्ठ है, स्तोत्र से जप करोड़ गुना श्रेष्ठ है और जप से करोड़ गुना श्रेष्ठ गान है, अतः गान से बढ़कर उपासना का कोई अन्य साधन नहीं है ।

इस उद्देश्य की सिद्धि हमारे गौरवान्वित ऋषि मुनियों की जीवनी से स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है ।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि हमारा संगीत अति-प्राचीन, पवित्र और ब्रह्मस्वरूप होने के कारण अलौकिक है । यहां पर ध्यानपूर्वक विचार करेंगे तो यही तत्त्व निकलता है कि अलौकिक संपत्ति का अलौकिक में ही विनियोग होना स्वाभाविक एवं वास्तविक है । यदि अलौकिक संपत्ति रूप हमारे संगीत को लौकिक में लगा लिया जायगा तो उसका अलौकिकत्व न रहकर केवल लौकिक अर्थात् दुन्यवी भौतिक स्वरूप ही रहेगा । हमारे शास्त्र-सिद्धान्तानुसार जगत की समस्त वस्तुओं में दैवी और आसुरी एवं आध्यात्मिक और भौतिक ऐसे दो प्रकार के स्वरूप-भेदों का विचार किया हुआ दृष्टिगोचर होता है । अतः संगीत की परम्परा में भी यह दोनों स्वरूप भेद हमें प्राचीन काल से दिखाई देते हैं । स्वयं भगवान शंकर और ब्रह्मा से लेकर भरत, मतङ्ग, नारद, तुम्बरादि ऋषि-मुनि आदि ही नहीं, किन्तु प्राचीन काल में भारत के अधिकतर प्राचीन आर्यों ने अपने जीवन के सभी कार्यों में संगीत कला को अध्यात्म की सहयोगिनी बना रखा था । फलतः वे अपना मन अपने आराध्य देव में स्थिर व तल्लीन बनाकर ईश्वर प्राप्ति की आध्यात्मिक अलौकिक उपासना करते थे । दूसरी तरफ पुराणादि महाकाव्यों से यह भी ज्ञात होता है कि इन्द्रादि

देवता और राजा-महाराजाओं के दरबारों में गायन, वादन, नृत्य, नाट्यादि का जलसा दिन-रात जमा रहता था। इतना ही नहीं, किन्तु इन्द्रासन की रूपलावण्यमयी अप्सराओं को तपस्वियों के तपों को भंग करने के लिये भेजा जाता था। जैसे कि, विश्वामित्र जैसे महान् तपस्वी का तप भ्रष्ट करने में मेनका ने सफलता पायी और उन्हींके संयोग से शकुन्तला का जन्म हुआ था। संगीताचार्य अर्जुन को भी संगीत के दुन्यवी-भौतिक परिणाम से नपुंसक होने का शाप मिला था। इस प्रकार प्राचीन काल के स्मृति पुराणादि के प्राप्त उल्लेखों से हम संगीत को आध्यात्मिक और लौकिक ऐसी दो परम्पराओं में बाँट सकते हैं। एक है जीवन को पवित्र बनाकर आत्मोन्नति द्वारा मोक्ष मार्ग के प्रति ले जाने वाला आध्यत्मिक संगीत और दूसरा जीवन को भ्रष्ट बनाकर आत्मा को अध:पतन के प्रति ले जाने वाला भौतिक अर्थात् दुन्यवी संगीत। आध्यात्मिक संगीत में अपरिमेय जीवन का आनन्द है, प्रेम-भक्ति का बहता हुआ अविरल स्रोत है, आत्मोन्नति है, सदाचार की वृद्धि है। राष्ट्रीयता व जातीयता की स्फूर्ति है और जीवन का पवित्र मनोरंजन है। दूसरा भौतिक संगीत यानि दुन्यवी संगीत में वासनापोषक प्रवृत्ति है, अनैतिक मनोरंजन है, अश्लील शृंगार एवं असद् भावोत्पत्ति है, राष्ट्र और समाज घातकता है और जगत के माया प्रपंचादि में फँसाने वाला पंक है। इस प्रकार प्राचीनकाल के पश्चात् मध्ययुग और आधुनिक युग में भी उपरोक्त दोनों परम्पराओं का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। इस युग में आध्यात्मिक संगीत का स्थान देवालय में और लौकिक-भौतिक संगीत का स्थान राज्यालयों में दृष्टिगोचर होता है। यहां हमारा आशय भक्ति-संगीत से सम्बन्धित है अत: दुन्यवी संगीत की चर्चा को छोड़कर भगवत्प्राप्ति के अलौकिक संगीत के सम्बन्ध में ही कहना चाहते हैं। विक्रम की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में संत, महंत, भक्तादि महानुभावों का और परम वंदनीय आचार्यचरण श्री वल्लभाचार्य महाप्रभुजी और बंगाल में श्री चैतन्य महाप्रभुजी तथा स्वामी हरिदासजी और हित-हरिवंशजी का प्राकट्य हुआ, जिन्होंने नादब्रह्मरूप संगीत द्वारा जन-समाज के हृदय में भगवान की शक्ति, कृपा और भक्ति के साथ आध्यात्मिक संगीत का अलौकिक स्रोत बढ़ाया।

यह समय सांस्कृतिक संघर्ष का युग होते हुए भी चार सम्प्रदायों के उपर्युक्त चार महापुरुषों ने श्रीकृष्ण-भक्ति का संगीत द्वारा जो अलौकिक स्रोत बहाया उसमें अनुग्रह मार्ग की पुष्टि भक्ति-प्रणाली में अष्टछापीय भक्ति-संगीत का स्थान है। भाषा-साहित्य और उत्तर भारतीय संगीत की दृष्टि से देखा जाय तो विपुल प्रमाण में सम्प्रदाय की सेवा में ओतप्रोत लगाने का सर्वश्रेष्ठ मान श्री वल्लभाचार्य महाप्रभुजी और आपके द्वितीय पुत्र, अष्टछाप के स्थापक श्रीमद् विट्ठलेशप्रभु की ओर नि:संकोच दिया जाता है।

सम्प्रदाय की संगीत-कीर्तन प्रणाली के मूल गायक अष्टछापादि भक्तों ने भगवल्लीला के प्रत्यक्ष दर्शन का स्वानुभावानुसार पदों में वर्णन किया है। यह

परम्परा प्राप्त मान्यता है। इस विषय में देखा जाय तो सूर की परीक्षा के लिये श्री गोविन्दरायजी, श्री बालकृष्णजी और श्री गोकुलनाथजी ने प्रभु को वस्त्र धरावे बिना सिगार किया था और सूरदासजी को पद गाने की आज्ञा की तब सूर ने गान किया कि–

"देखे री हरि नंगमनंगा; जलसुतभूखन अंग बिराजत बसनहीन छबि उठत तरंगा ।" इस तुक में "नंगमनंगा" और "बसनहीन छबि" इन दो शब्दों की ओर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि सूर को चर्मचक्षु नहीं थे अतः दिव्यचक्षु द्वारा ही यह वर्णन संभवित होता है । इस प्रकार जहाँ जिस प्रकार की लीला हो रही है वहाँ उस लीला के साक्षात् दर्शन करके उसी समय उसी भाव की लीला का गान करते हुए नन्ददासजी का एक पद निम्न प्रकार है–

"देखो देखोरी नागर नट × × × नन्ददास गावे तहाँ निपट निकट ।।"

मुरली नाद द्वारा भगवान बालकृष्ण के ब्रह्मनाद को संगीत के स्वरों द्वारा अद्भुत रस की लीला का स्वानुभाव किया हुआ और पद भी देखेंगे "कान्ह कुंवर के करपल्लव पर, मानों गोवर्धन नृत्य करे ।। ज्यों-ज्यों तान उठत मुरली की, त्यों त्यों लालन अधर धरें ।।२।। मेघ मृदंगी मृदंग बजावत, दामिनी दमकि मानों दीप जरे ।। ग्वाल तालदैनी के गावत, गाइनके सुत सुर जू भरें ।।२।। देत असीस सकल गोपीजन, बरखाको जल अमित झरे ।। अति अदभुत अवसर गिरिधरकों' 'नंददास' के दुखजू हरे ।।३।"

महानुभाव गोपालदासजी ने भी "माधव मासे भर वैसाखे" इस पद में कहा है कि "जिन जैसा देख्या तिनि तैसा पेख्या"–इस पंक्ति में उपर्युक्त मान्यता सिद्ध होती है ।

पुष्टिभक्ति मार्ग में भगवत्सेवा का सभी कार्य ब्रह्मरूप संगीत द्वारा ही होता रहता है । अतः मार्ग की सेवा प्रणाली में राग अर्थात् संगीत को प्रथम स्थान दिया गया है । बाद में भोग (सामग्री) और शृंगार (शोभन) का स्थान माना जाता है । सेवाप्रणाली में प्रभु को जगाते ही शंखनाद, वेणुनाद के बाद वीणा (बीन) नाद के स्वरों का गुंजन होता है, पश्चात् भावानुसार पदगान का आरंभ होता है। इस संबंध में सम्प्रदाय के विद्वान नि. ली. गो. श्री दीक्षितजी महाराज का निम्न कथन आदरणीय है––

"सम्प्रदाय में श्रीमहाभगवदीय दिव्यवाणी संगीत गीत-साहित्य का स्थान सर्वाधिक है । हमारे प्रभु मन्त्रोपासना से किंवा मन्त्रोपयोग सेवा में उपयुक्त कर प्रसन्न नहीं होते हैं । किन्तु भगवद् गुणानुवादात्मक महद् भवदीय कृत कीर्तनों से ही जागते हैं, पौढ़ते हैं, आरोगते हैं । यह परम तथ्य है । स्वल्प सेवा भी आप कीर्तनों के बिना अंगीकार नहीं करते हैं ।

सम्प्रदाय के गोलोकवासी अग्रगण्य विद्वान् श्री मग्नलाल ग. शास्त्री का भी निम्न अभिप्राय अत्र उपयोगी होगा——

"भाष्यप्रकाश के मंगलाचरण के प्रथम श्लोक में श्री पुरुषोत्तमजी के 'संगीत-श्रुतिमूर्धभिः' इस ग्रथित पद से ज्ञात होता है कि भगवत्कीर्तन का भी परम विनियोग रसाविष्कार में है । यह रसाविष्कार तभी शक्य होता है जब भगवत्कीर्तन भी रसिकता से संगीत-पद्धति से किया जाय यह मान्यता बुद्धिग्राह्य है ।"

"श्री महाप्रभुजी के और श्री गुसांईजी के समय के कीर्तनकारों को यादृश प्रभुदर्शन भगवत्कृपा से होते थे तादृश कीर्तन सत्वर ग्रथित करके उसका उद्गान प्रभुसंमुख करते थे । हम लोगों का तो मात्र उनकी प्रसादीरूप कीर्तन-गान करने का अधिकार है । अर्वाचीन कीर्तनकारों-रचित कीर्तन प्रभु समक्ष गाये नहीं जाते ऐसी स्वमार्ग मर्यादा है । यह मर्यादा सुयुक्त है ।"

इस प्रकार सेवाप्रणाली की मर्यादाओं से सम्प्रदाय की कलाओं की सुरक्षा होती रही है । संगीतकला और कीर्तन-साहित्य की परम्परा भी इसी कारण से आज तक संमाननीय हो रही है ।

यह निःशंक है कि भारतीय संगीत में द्रुपद-धमार की प्राचीन परम्परा को समृद्ध और सुरक्षित रखने में अष्टछापीय संगीत-परम्परा का महायोगदान है । पुराने कीर्तनिया, द्रुपद शैली के विविध लीलादि प्रकार के २००० से अधिक पदों का भाव और उत्साह के साथ गान किया करते थे । जब नाथद्वार में छप्पन-भोग के उत्सव पर ३२ कीर्तनिया उपस्थित होते थे तथा कहीं-कहीं प्रसंगोपात भी विभिन्न गानों की कीर्तनिया-मंडली जब एकत्र होती थी तब एक ही साथ सभी कीर्तनकार झांझ बाजकर गान करते थे तथापि स्वर-राग-ताल-लय और कीर्तन के शब्दों में संपूर्ण एकता रहती थी । इस परम्परानुसार विक्रम की गत शताब्दी में सैकड़ों कीर्तनियाओं की संख्या मौजूद थी, जिनमें से मेरे परिचित कीर्तनकारों की नामावली परिशिष्ट में दी गई है ।

परन्तु आज की परिस्थिति की ओर देखते हुए दुःख के साथ यहाँ कुछ कहना आवश्यक समझता हूँ । आजकल हम लोग अष्टछापीय हवेली-संगीत की गौरव से बड़ाई कर रहे हैं, परन्तु जैसे दीवाल पर बिल्ली का चित्र बनाया हो और इसके ऊपर 'जंगली शेर' लिखकर जाहिरात होती है ऐसी हमारी संगीत की दशा होने में अब क्या बाकी है ? आजकल अपनी तैयारी के २५-५० पदों को छोड़कर विविध बंदिशों के अन्य पदों का गान करने वाले कुछ गिनती के कीर्तनकारों को छोड़कर आज के कीर्तनिया कहलाने वाले वैष्णवगण की संख्या भले अधिक बढ़ गई हो, किन्तु समूहगान और व्यक्तिगत गान में न एकता, न राग, न ताल की परम्परा । यही नहीं, स्वर और उच्चार भी आधुनिक ढंग से दिखाई देते हैं । मेरा अनुभव है कि इस प्रकार के कीर्तनिया को यदि व्यक्तिगत सुनना चाहेंगे तो प्रत्येक की स्वर-लिपि अलग रहेगी । तदुपरान्त स्थायी, अंतरा, संचारी इत्यादि पद-पंक्तियाँ एक दूसरे से

मिली हुई दिखाई देंगी । इसके अतिरिक्त ऐसे भी कीर्तनिया दृष्टिगत होते हैं जो परम्परा के राग-ताल को परिवर्तित करके गान करते हैं । अधिकतर सौराष्ट्र में ऐसी एक प्रथा का आरंभ ठाठी लीला के माध्यम द्वारा हो रहा है । यह ठाठी-लीला तक सीमित हो वहाँ तक मुझे दुःख न होगा, किन्तु सेवाक्रम की प्रणाली के पदों में श्री संमुख में भी ऐसा परिवर्तन दिखाई देता हो तो यह मर्यादा भंग हमारी परम्परा की विशिष्टता को लांछनरूप समझता हूँ। इन्द्रभानभंग का सारंग राग का "अब न छांड़ो चरनकमल महिमां मैं जानी" यह पद मैंने सौराष्ट्र के प्रसिद्ध कीर्तनकार से राग भीमपलास और दादरा ताल में अन्नकूट के दर्शन संमुख गाते हुए जब सुना तब आश्चर्य हुआ था। यही नहीं, निधि स्वरूप की एक हवेली में संध्यारती में गौरी का पद कान्हरा राग में गाते हुए भी सुना है । इस प्रकार सम्प्रदाय के संगीत प्रचार का आगे कदम बढ़ता रहेगा तो परिणाम क्या होगा वह वाचकगण स्वयं समझ लें ।

कीर्तन समाज की एक ओर यह परिस्थिति है तो दूसरी ओर अच्छे कीर्तनकार कहलाने वाले आज अधिकतर ऐसे भी सुने हैं कि एक ही पद को दो-तीन बार सुनोगे तो प्रत्येक बार पद-पंक्ति के स्वर-स्थान विभिन्न दिखाई देंगे । ताल की मात्रा और शब्दों के लघु गुरु की स्थान की मात्रा का साम्य न रहने के कारण कई बार दो-तीन शब्दों को एक ही साथ जोड़ दिया हुआ हो तो कई बार शब्दों का और स्वरों का तोड़ना और भाषा और संगीत की दृष्टि से कम-ज्यादा विराम सुनाई पड़ता है, जिससे आवर्तन और उसके विभाग (खण्ड) समझने में बड़ी बाधा उत्पन्न होती है। ताल की दृष्टि से जिस पंक्ति में बारह अक्षर भी न हों ऐसे पद चौताल में गाये जाते सुने हैं । तदतिरिक्त कोई आरंभ से लेकर समाप्ति तक कीर्तन का उठाव और चलन टीप सप्तक में किया करते हैं । अतः चौताल, सूरताल, चर्चरी, धमार इत्यादि तालों में गाये जाने वाले पदों की मात्राओं की गिनती का हिसाब ध्यान में लेकर गाने वाले आज क्वचित् ही होंगे ।

कुछ पदों के गान में विवादी स्वर का अधिक प्रयोग और कभी वर्ज्य स्वर भी दिखाई देगा । आश्चर्य होता है कि प्रणाली के कीर्तन भी शुद्ध सारंग, आधुनिक श्यामकल्याण, भीमपलास, इत्यादि रागों में परिवर्तित करके गाये जाते हैं। तथा रामकली, पूर्वी, नायकी, अड़ाना, वसंत, ललित इत्यादि रागों की परम्परा को छोड़कर आधुनिक प्रचारक एवं पं. भातखंडेजी के ग्रन्थों के आधार पर अनुकरण करना आरंभ हो चुका है ।

ऐसी उलझनयुक्त परिस्थिति में परम्परा, शास्त्र-प्रणाली, बंदिश, रागतालादिके प्राचीन स्वरूप की मर्यादा में रहकर इस प्रकार का ग्रन्थ लेखन मेरी सामर्थ्य की बाहर मानता हूँ, किन्तु गुरुजनों की कृपा और आशीर्वाद से यह ग्रन्थ प्रकट करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष होता है । ऐसे गुरुजनों एवं संपर्क में आये हुए कीर्तनकारों की नामावली परिशिष्टि में दी गई है ।

यहाँ सर्वप्रथम मेरे जनकपिता का ऋण स्वीकार करता हूँ, जिन्होंने मुझे बाल्यावस्था से कीर्तन-संगीत का सिंचन किया था। बाद में मेरे दीक्षागुरु तृतीय पीठाधीश्वर नि.ली., गो. श्री व्रजभूषणलालजी महाराज का ऋण स्वीकारता हूँ। आपके मंदिरों में वर्षों तक हमारा पालन-पोषण हुआ था। यही नहीं, कांकरोली में ले जाकर लगभग तीन सालों तक द्वारकेश संगीत विद्यालय की स्थापना कर उसका भार मुझे सौंपा गया था। कीर्तन की सेवा में भी कुछ रोज कीर्तन के मुखिया की सेवा भी प्राप्त हुई थी। कीर्तन की प्राचीन परम्परा का और व्रजभाषा का अधिक ज्ञान भी आपकी कृपा की देन समझता हूँ।

मार्गीय शास्त्र ज्ञान तथा संस्कृत का ज्ञान जिनसे प्राप्त हुआ है ऐसे गो. वा., प. भ., नागरदास बांभणिया का उपकार भी भूल नहीं सकता। संगीत के विद्या गुरु पं. भातखंडेजी के पट्टशिष्य पं. वाडीलालजी का ऋण स्वीकार भी कर्तव्य समझता हूँ प्रेमवश होकर उपकार मेरे वड़ील बंधु समान प. भ. अध्या. केशवराम का. शास्त्रीजी का मानता हूँ, जिनकी सहायता न होती तो यह ग्रन्थ प्रगट होना असंभव हो जाता। आपका उत्साहपूर्वक सूचन, प्रेरणा, मार्गदर्शन इत्यादि से दिया हुआ पीठबल जीवन भर भूल नहीं सकता। आपने इस ग्रन्थ का 'आमुख' लिखकर भी मुझे ऋणी बनाया है।

यह ग्रन्थ मैंने प्रथम मेरी मातृभाषा में लिखा था, किन्तु स्नेहीजनों का हिन्दी भाषा में प्रगट करने का आग्रह होने के कारण मुझे हिन्दी में लिखना पड़ा। यहाँ हिन्दी छपाई की असुविधा के कारण मुझे बड़ी चिन्ता थी। किन्तु भगवत्कृपा से धार के डॉ. गजाननजी जैसे हिन्दी के और सम्प्रदाय के मर्मज्ञ अधिकारी विद्वान हमें सौभाग्य से मिल गये, जिन्होंने इन्दौर के प्रेस में छपवाने की हमारी विनंती को सहर्ष स्वीकार किया। आपके अत्यन्त परिश्रम बिना यह ग्रन्थ समयसर प्रगट नहीं हो सकता था। आपके दिये हुए समय और श्रम ने मुझे आभारी बना दिया है। दृष्टि कुंठित होने के कारण मेरे शिष्य जनकभाई पटेल की पढ़ने-लिखने में की हुई सहाय भी भूलना नहीं चाहिये।

गुर्जर भाषा-भाषी होने के कारण इस ग्रन्थ में त्रुटियाँ रही हों तो इसलिये वाचक मुझे क्षमा करेंगे।

मुझे हर्ष होता है कि आज लुप्त होती हुई द्रुपद धमार-शैली को पुनः जीवित करने का आरंभ हमारी सरकार की ओर से संगीत अकादमी द्वारा यथाप्रयत्न हो रहा है। किन्तु सम्प्रदाय की ओर से किसी प्रकार का उत्तेजन न होने के कारण व्यवसायी कीर्तनकारों की परम्परा नष्ट होती जा रही है। अतः सम्प्रदाय के पू. पाद गो. वर्ग एवं वैष्णव समाज के धनिक वर्ग से प्रार्थना है कि आधुनिक लोक संगीत सिनेमा-संगीत, सुगम-संगीत, इत्यादि के परिवर्तनशील प्रवाह से बचाकर सम्प्रदाय की

ध्रुपद धमार की इस प्राचीन परम्परा को जीवित रखने का प्रयत्न करें। इतना ही तो मेरे श्रम की सफलता होगी।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन को बल देने के लिए जिन पू. पा. गोस्वामी आचार्यों ने एवं ट्रस्टी महाशयों तथा स्वयं भी सहायक रूप में अथवा बड़ी संख्या में खरीद करके सहाय की है उनके विषय में आमुख में प. भ. के. का. शास्त्रीजी ने लिखा है, अत: यहाँ पुनरुक्ति करता नहीं हूँ, किन्तु उन सबोंका मैं हृदय से उपकार स्मरण करता हूँ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

६०, नायकनगर,
अमहदाबाद-३८००१४
दि. २०-५-१९८३

कृपाकांक्षी
चम्पकलाल छ. नायक

अष्टछापीय-भक्ति संगीत

उद्भव और विकास

प्रथम खण्ड

चम्पकलाल छ. नायक

श्रीकृष्णाय नम:

भारतीय इतिहास के कालखंडों के विभाजनार्थ ई. पू. ५००० से ई. पू. १००० तक के समय को पाश्चात्य तथा तदनुसार आधुनिक भारतीय इतिहासविद् "वेदकाल" मानते हैं। यह सुप्रसिद्ध है कि भारतवर्ष में आज तक बहती हुई संगीत-सरिता का मूल सामवेद है। भारत्तवर्ष की ललित कलाओं में संगीत का स्थान उन्नत और गौरवान्वित रहा है। भारतीय संस्कृति का मूल धर्म या अध्यात्म में हैं। संस्कृति और अध्यात्मविद्या में भारत जगद्गुरु रहा है। भारतीय संस्कृति को श्रेष्ठता के शिखर तक पहुँचाने में ललित कलाओं का योगदान भी कुछ कम नहीं है। ललित कलाओं में अग्रस्थान संगीत कला को दिया जाता है। क्योंकि संगीत का उत्पत्ति स्थान नादब्रह्म है। और 'ब्रह्म' पद भगवान् के व्यापक रूप का वाचक है। 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ के स्वर प्रकरण के प्रारंभ में ही कहा गया है--

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना ।
नादब्रह्म तदानंदमद्वितीयमुपास्महम् ।।

संगीत की उत्पत्ति नाद से है और नाद ब्रह्म है, भगवत् स्वरूप है--'नादो ब्रह्म न संशय : ।'

जो प्राणिमात्र में चैतन्य है और जो जगत् के रूप में विकसित हुआ है, जो आनंदमय और अद्वितीय है। उस नाद ब्रह्म की हम उपासना करते हैं--

गीतनादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते ।
तद्द्वयानुगतं नृत्यं तदाधीनमतस्त्रयम् ।।

गीतगान का अवलंबन नाद है । नादकी अभिव्यक्ति के कारण ही वाद्यों को प्रशस्त माना गया है। नृत्य भी गीत और वाद्यों पर ही आधारित है। इस प्रकार गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों ही कलाएँ नादाधीन हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है कि 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' इस प्रकार सामवेद स्वयं भगवान् का स्वरूप है। संगीत की उत्पत्ति के (उद्गम के) बारे में कुछ किंवदंतियाँ हैं, किंतु भारतीय संस्कृति की अंगरूप संगीत कला का उद्गम हम अनादि मानते हैं अत: वेदग्रंथों तक ले जाते हैं। चार वेदों में सामवेद

को संगीत का वेद कहा जाता है। उपवेदों में ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद और सामवेद का उपवेद गंधर्ववेद माना गया है।

ऋग्वेद की ऋचाओं के स्वराश्रित गान को सामगान कहते हैं। विद्वानों के मतानुसार सामवेद में ऋग्वेद के मंत्र होते हुए भी इन मंत्रों के गीति-गान से ओतप्रोत होने के कारण सामवेद को स्वतंत्रतया गेय माना जाता है।

सामगान की इन ऋचाओं में हमें भक्तिभावात्मिका वृत्ति के भी दर्शन होते हैं। ऋषियों ने अग्नि, वरुण, मित्र, इंद्र, यम, आदित्य, विष्णु, रुद्र, पूषण आदि देवताओं के प्रति जो भावनाएँ प्रकट की हैं उसमें भक्तिभाव स्पष्ट दिखलायी देता है। अनेक प्रसंगों में ऋषियों ने देवताओं की कृपा प्राप्ति की कामना की है। सामगान की संगीतमय ऋचाओं में हृदय के आर्द्रभाव एवं भक्तिभावपूर्ण उपासना के भी दर्शन होते हैं।

सामवेद के गेय होने के कारण इसे 'उद्‌गीथ' भी कहते हैं। सामगान करने वाले को 'सामगाथा' अथवा 'उद्‌गाता' भी कहते हैं। महर्षि पाणिनि और नारद के शिक्षाग्रंथों के 'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रय:' इस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि सामवेद में प्रथम तीन स्वरों का ही प्रयोग होता था। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीनों स्वर वाक्‌गत हैं। इन स्वरों का अभिप्राय वास्तव में सामगान के पाठ में स्वराघात होने से मुख्यत: गीतात्मक रूप बन जाता था।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार ऊंचे स्वर को उदात्त, नीचे स्वर को अनुदात्त तथा समाहार स्वर को स्वरित कहा गया है।* अर्थात् आरोहात्मक स्थिति उदात्त, अवरोहात्मक अनुदात्त और समांतर स्थिति में स्वरित होता है। स्वरित का अर्थ विभिन्न कालों में बदलता रहा है। कोई स्वरित को उदात्त और अनुदात्त के मध्य का स्वर कहते हैं। कोई उदात्त से ऊँचा स्वर और कोई अनुदात्त से भी नीचा स्वर कहते हैं। इस प्रकार के विभिन्न मंतव्यों का निष्कर्ष यह निकलता है कि सामगान के स्वर अवरोहात्मक स्थिति में थे। सामवेद सूक्त में प्रथम जो तीन स्वरों का स्वरूप बना हुआ था उस दृष्टि से कहा जाये तो एक स्वर में ऋक्, दो स्वरों में गाथा और तीन स्वरों में सामगान गाया जाता था।

तदुपरांत स्वरांतर के नाम से चार स्वरों का समूह भी प्राप्त होता है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन प्राचीन स्वरों को क्रमश: गांधार, ऋषभ और षड्‌ज के समकक्ष माना जाता था। इस प्रकार ग, रे, सा का समूह **कुछ काल के बाद ग, रे, सा, नि यों चार स्वर बन गये**। चतुर्थ स्वर में षड्‌ज–मध्यमभाव के कारण कुछ काल के बाद नीचे का एक और स्वर धैवत भी जुड़ गया। यहां

---

* *उच्चैरुदात्त: नीचैरनुदात्त: समाहार: स्वरित:।*

एक बात और ध्यान में रखना चाहिये कि प्रारंभिक गांधार होने के कारण ही गांधार ग्राम की कल्पना की गयी थी । पश्चात् गांधार के ऊपर का मध्यम स्वर जुड़ जाने से चार स्वरों का समूह बन गया । ऋक् प्रातिशाख्य ग्रंथ में प्रथमा, द्वितीया, तृतीया और चतुर्थी इस तरह के नाम इन प्रथम चार स्वरों के प्राप्त होते हैं ।

आधुनिक इतिहासविदों के मत में ई. पू. ४०० वर्ष प्राचीन माने जाने वाले तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में प्रथमा स्वर का 'कुष्टा' नाम कहा गया है। कुष्टा यानी ऊँचा स्वर. इस दृष्टि से कभी-कभी गांधार से ऊंचा स्वर मध्यम प्रयुक्त होने लगा । यह कुष्टा स्वर सबसे ऊँचा गाया जाता था। कुछ समय पश्चात् धैवत स्वर भी प्रयुक्त हुआ। और इस तरह वैदिक काल के स्वरों का औडव सप्तक सामने आया । जैसे–म, ग, रे, सा, ध ।

कहा जाता है कि दक्षिण में प्राचीन काल में आज के 'आभोगी' राग में सामवेद गाया जाता था। आधुनिक आभोगी राग के 'सा रे ग म ध' अथवा ग रे सा नि ध स्वरों के सदृश होने की मान्यता है।

अनंतर म ग रे सा ध इन औडव स्वरों के साथ पंचम और मध्यम स्वर प्रयुक्त होने पर कुल सात स्वरों का सप्तक अस्तित्व में आया । यह माना जाता है कि वैदिक सप्तक के स्वरों को हम निम्न–प्रकार से पहचान सकते हैं :—

(१) कुष्टा—मध्यम, (२) प्रथमा—गांधार, (३) द्वितीया—ऋषभ, (४) तृतीया—षड्ज (५) चतुर्थी—निषाद, (६)मंद्र—धैवत, (७) अतिस्वर—पंचम

सामगान में उपर्युक्त प्रकार से एक निश्चित रूप में सप्तक (सात स्वरों) का आयोजन दृष्टिगोचर होता है, जो अवरोह क्रम से बना हुआ है। जिस समय गांधार के ऊपर मध्यम स्वर की कल्पना हुई, उस समय से मध्यम ग्राम का आरंभ हुआ यह माना जाता है। नारदीय शिक्षा में वैदिक सात स्वरों का आरंभ मध्यम से ही माना गया है:—

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः ।
यो द्वितीयः सः गांधार तृतीय स ऋषभः स्मृतः ।।
चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पंचमो धैवतो भवेत् ।
षष्ठो निषादो विज्ञेयः सप्तमः पंचमः स्मृतः ।।

(कंडिका ५ श्लोक १–२)

इस प्रकार सामगान का स्वर प्रथम वेणु का मध्यम, द्वितीय गांधार, तृतीय ऋषभ, चतुर्थ षड्ज, पाँचवाँ धैवत, षष्ठ निषाद, सप्तम स्वर पंचम है।

इस प्रकार सामगान में मध्यम से आरंभ कर के गांधार—ऋषभ—षड्ज से सीधे धैवत स्वर को लेकर निषाद तक जाकर दो स्वर नीचे पंचम स्वर पर

न्यास होता है। इस क्रमानुसार म, ग, रे, सा, ध, नि, प स्वर क्रम रहेगा। सामगान की प्राचीन संज्ञाओं के पश्चात् षड्ज, ऋषभादि संज्ञाओं का प्रचलन हुआ होगा, तथापि दोनों के स्वर-क्रम में भिन्नता है और यही सामगान की विशिष्टता थी।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के वैदिक सात स्वरों के नाम कुछ विद्वान् 'म ग रे, सा नि ध प' के क्रमानुसार स्वीकारते हैं,* किंतु अन्य कुछ विद्वानों के मतानुसार यह क्रम 'म ग रे सा ध नि प' है। जो भी हो** इन दोनों मतों के अनुसार आरंभ के चार स्वरों में कोई क्रमभेद नहीं हैं।

उपर्युक्त दोनों पक्षों में मतभेद हो या पाठभेद, किन्तु बहुसंख्य विद्वानों के अनुसार तथा प्रस्तुत लेखक के मतानुसार सामगान की स्वतंत्र परंपरा को दृष्टिगत करने पर द्वितीय पक्ष अधिक संगत प्रतीत होता है। प्राचीन काल में सामगान के सप्तस्वरों का और स्वरसंवादित्व का महत्व पाणिनि तथा नारद की शिक्षा में स्पष्ट किया गया है——

उदात्ते निषादगांधारौ अनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवाः ह्येते षड्जमध्यमपंचमाः ॥८॥

अर्थात् उदात्त के अंतर्गत निषाद और गांधार, अनुदात्त के अंतर्गत ऋषभ और धैवत तथा स्वरित में षड्ज मध्यम और पंचम स्वरों का समावेश होता है। इन स्वरों को कोष्टक द्वारा और स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

स्वरित	अनुदात्त	उदात्त	स्वरित	स्वरित	अनुदात्त	उदात्त
सा						
सा	रि					
सा	रि	ग				
सा	रि	ग	म			
सा	रि	ग	म	प		
सा	रि	ग	म	प	ध	
सा	रि	ग	म	प	ध	नि

उपर्युक्त सप्त स्वरों के उद्भवका रहस्य यह है कि एक से प्रारंभ कर सातों स्वरों में जो वेदगान किया जाता था उसे गान कहते थे। यहाँ गान और गीत

---

* चतुर्थ षड्ज इत्याहुर्निषाद : पंचमो भवेत् ।
षष्ठस्तु धैवतो ज्ञेयः सप्तमः पंचम : स्मृतः ॥

** चतुर्थ षड्ज इत्याहु : पंचमो धैवतो भवेत् ।
षष्ठो निषादः विज्ञेयः सप्तमः पंचमः स्मृतः ॥

(नारदीय शिक्षा प्र. १ कं. १ श्लो. ५)

(गायन) का भेद समझना आवश्यक है, जो इस तरह है:—

गान :— (अ) एक स्वर से लेकर सातों स्वरों तक का गान होता है।

(आ) गान नियमित स्वरों में बद्ध होता है।

(इ) गायन की तरह गान में तालों का कोई बंधन नहीं है।

गायन–गीतः— (अ) गायन में कम से कम पाँच स्वरों की विद्यमानता अनिवार्य है अर्थात् पाँच से सात स्वरों का गायन होता है।

(आ) गायन में ग्रह, अंश, न्यास, वादी, संवादी इत्यादि बंधन होते हैं।

(इ) लय एवं ताल का बंधन रहता है।

एक से सात स्वर तक के विभिन्न सात गानों की प्राचीन संज्ञाएँ इस प्रकार हैं:—

गान-स्वर संख्या	संज्ञा	**उदाहरण**
एक स्वर गान	आर्चिक	सा, (ओम्)
द्वि स्वर गान	गाथिक	सा रे, रे सा, (हरे, हरे)
त्रि स्वर गान	सामिक	सा रे ग, सा रे ग, (हरिऊँ, हरिऊँ)
चतु: स्वर गान	स्वरांतर	सा, रे, ग, म; म, ग, रे, सा, (कोई भी भगवद् नाम प्रयुक्त किया जा सकता है जैसे–नारायण नारायण)
पंच स्वर गान	औडव	सा, रे, ग, म, प, प, म, ग, रे, सा,
षट् स्वर गान	षाडव	सा, रे, ग, म, प, ध, ध, प, म, ग, रे, सा,
सप्त स्वर गान	संपूर्ण	सा, रे, ग, म, प, ध, नि, नि, ध, प, म, ग, रे, सा,

निष्कर्ष यह है कि वैदिककाल में सातों स्वरों का आविर्भाव हो चुका था। इस तथ्य को माण्डूकी–शिक्षा की निम्नलिखित पंक्ति का भी समर्थन प्राप्त होता है:—

सप्त स्वरास्तु गीयन्ते सामभिः सामगैर्बुधैः

स्वरों के अतिरिक्त सामवेद के सूक्तों में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत नामक मात्राएँ भी दिखलाई देती हैं। स्वराघात के समय इन मात्राओं का भी स्वरों के साथ ध्यान रखना पड़ता है। यजुर्वेदादि में स्वर हाथ से दिखाये जाते हैं और सामवेद

में अंगुलियों के पोरोंपर अंगुष्ठ से गिने जाते हैं। इसके विपरीत यानी मंत्रों का स्वरहीन गान करने से कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है।*

वैदिक साहित्य में संगीत और नृत्य

वैदिक साहित्य में वाद्यः—वैदिक काल की संगीत—साधना में भिन्न-भिन्न वाद्यों का भी उल्लेख मिलता है।

तत्वाद्य—इनमें कर्करी—वीणा,** कांड—वीणा*** तथा वारण्य‡ अथवा वाण का उल्लेख प्राप्त होना है। वाणवाद्य को वीणा‡‡ भी कहते हैं। कुछ अन्य ग्रंथों में इस वीणा में तारों की संख्या एक सौ बताई गयी है। इस लक्षण के आधार पर आज के सुर मंडल जैसी वीणा के किसी प्रकार की संभावना होती है।

सुषिर वाद्य—इन वाद्यों में 'बाकुर' नामक वाद्य का उल्लेख प्राप्त होता है जो फूंक से बजाया जाता था। विद्वानों का विचार है कि यह संभवतः शंख होगा।‡‡‡

अवनद्ध वाद्य—इस प्रकार के वाद्यों में दुंदुभि का उल्लेख अधिकतर मिलता है।६

घनवाद्य—इन वाद्यों में आघाती या आघारी नामक वाद्य का उल्लेख मिलता है। 'आघारी' नाम घनवाद्य सूचक है, फिर भी कुछ विद्वान् इसे आनद्ध जाति का वाद्य भी कहते हैं। अथर्ववेद में भी उल्लेख मिलता है कि 'हे अप्सराओ! जहाँ नीला और सफेद हिंडोला है और जहाँ आघारी कर्करी के साथ बजती है, वहाँ जाओ।"६६

इस प्रकार अन्यत्र भी वेद में तत्कालीन वाद्यों के नामों में सुषिर जाति में तूणव नांदि, अवनद्ध वाद्यों में आडंबर भुमिदुंदुभि वानस्पति इत्यादि हैं।

---

* मंत्रोहीन स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। नारदीय शिक्षा १-१-५

** यदुत्पतन् वदसि कर्करियेथा बृहद् वदेम विदथे सुवीरा : (ऋग्. मं. २—४३—३)

*** काठकसंहिता —३४—५

‡ ऋग्. मं. ९—९७—८, १०—३२—४।

‡‡ सायणाचार्य ने वाण वाद्य को मरुद्वीणा कहा है।

‡‡‡ यवं वृकेणाश्विना वपंतेषं दुहंता मनुषाय दस्त्रा अभिदस्युं बकुरेणाधमन्तोरू ज्योनिश्च कथुरापयि। (ऋग्. मं. १०—१३५—७)

६ आमूरज प्रत्यावर्तेमाः केतुमदुंदुभिर्वा वदीति। समश्वपर्णाश्च रति नवे नरो अस्माकं रथिनो जयन्तु (ऋग्. मं. ६—४७—३१)

६६ आघाटयो वाटलिका कांडवीणा (काठक संहिता ३४—५)
यत्र वह प्रेहरिता अर्जुना उन यत्राघाटाः ककयः संवदंति तत् परेता अप्सरस : प्रतिबुद्धा अभूतन् (अथर्ववेद मं. ४—३७—५)

वेद में वीणावादक का 'वीणागाथिन' और 'वीणाक्य' नाम उपलब्ध होता है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय लोगों में वीणावादन पर्याप्त प्रचलन में होगा।

संगीत के पारिभाषिक शब्दों में आज जो मंद्र, मध्य और तार शब्दों का प्रयोग होता है उनके लिये प्राचीन काल में मंद्र, मध्यम और उत्तम शब्द प्रयुक्त होते थे।

सप्तक के तीन प्रकार के अलावा आज जिन स्वरों को हम कोमल और तीव्र स्वर के नाम से पहचानते हैं उनके लिये 'मृदु' और 'तीक्ष्ण' शब्द उपलब्ध होते हैं।

ताल विषयक पारिभाषिक शब्द

ताल से संबंधित पारिभाषिक शब्दों में आज हम जिसे 'लय' और 'मात्रा' कहते हैं, इनकी वेदकालीन पारिभाषिक संज्ञा 'वृत्ति' और 'प्रतिवृत्ति' है।*

आज जो लय के तीन प्रकार माने जाते हैं (१) विलम्बित (२) मध्य तथा (३) द्रुत; वे प्राचीन ही हैं।**

मात्रा के निश्चित प्रमाण को दिखलाते हुए कहा गया है कि 'चाष' पक्षी एक मात्रा, कौआ दो, मोर तीन मात्रा और नेवला आधी मात्रा की आवाज निकालता है।‡

वेद में 'सवन' के तीन प्रकार

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं वेदकाल में सातों स्वरों का उपयोग "यजुर्वेदेऽपि सप्तस्वराः भवंति" इस विधान से स्पष्ट हो जाता है। इन स्वरों के आधार पर तीन प्रकार के सवन गाये जाते थे : (१) प्रातः सवन (२) मध्याह्न

---

* *त्रीणी मंद्रं मध्यममुत्तं च स्थानान्याहुः सप्त यमाति वाचः सप्त स्वरा य यमास्ते (ऋक् प्रातिशाख्य पटल–१३)*
स्वरेभ्यः पृथग्भूता अन्ये यमा : स्वरेषु वर्तन्ते, एतेषां मृदुत्व तीक्षणत्वं च वेदितव्यम्।
मात्रा विशेष : प्रतिवृत्युपैति।

** *"त्रिस्त्रो वृत्तिरुपदिशंति वाचो विलंबितां मध्यमां च द्रुतां च" त्रिस्त्रो वृत्रीर्वाचिं उपदिशंत्याचार्यः" (ऋक् प्रातिशाख्य १३–४६)*

‡ *चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत शिखी त्रिमात्रो विज्ञेय एष मात्रा परिग्रह :" त्रिमात्रां तु शिखी ब्रूते नकुलस्त्वर्धमात्रिक (शुक्लयजु : प्रातिशाख्य ४६७–१६)*

सवन और (३) तार सवन । इन सवनों को किस वृत्ति में (लय में) किस समय गाना चाहिये, इस बारे में भी नियम हैं। अनुमानतः प्रातः गंभीर समय में विलंबित लय में गान करना अधिक उचित माना जाता होगा।*

वेदों में नृत्य

वेदों में नृत्य से संबंधित उल्लेख भी उपलब्ध होते हैं । उषा की स्तुति करते समय उसके रंग की शोभा को, नृत्यांगना के पैरों से उड़ती हुई धूल के समान वर्णित किया गया है। उपर्युक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय खुले मैदानों में नृत्य करने का रिवाज होगा।**

वेदों में भक्तितत्त्व

भगवान् के स्नेह तथा प्रसाद की भावना से किये जाने वाले स्तुतिगान वादन तथा नृत्य रूप संगीत को भक्तितत्त्व से पृथक् नहीं किया जा सकता । भगवच्चरणों में समर्पित संगीत वस्तुतः भक्तिभाव का ही अन्यतम रूप है । संगीत के अंतर्गत परिगणित गान, वादन और नृत्य कलाएँ वेदकाल में थीं और भक्ति-भाव से ओत-प्रोत भी थीं ।

वैसे वेदों में 'भक्ति' शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता तथापि ऋषि-मुनियों का हृदय भक्तितत्त्व से अपरिचित नहीं था; ऐसा अनेक विद्वानों ने स्वीकारा है ।

वेद में इंद्र, अग्नि, मित्र, वरुण इत्यादि देवताओं की प्रशंसा अनेक स्थलों पर मिलती है। जिस देवता का स्तुति प्रसंग चल रहा हो उसकी अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक प्रशंसा की गयी है। यह माहात्म्य दर्शन रूप भक्ति की पहली सीढ़ी मानी जाती है। वैदिक सूक्तों के मंत्रद्रष्टा ऋषियों का हृदय देवता के माहात्म्य दर्शन के लिए द्रवित होता है। ऋषि देवता को प्रणाम करता है,*** वंदन करता है‡ और स्तुति करता है।‡‡

---

* *विलंबिता बालानामध्यपना दिषूपदिशंति । मध्यमां व्यनद्वारादिषूपदिशंति । द्रुतामध्ययमनस्य बहुरूपाभ्याम् उपदिशंति (ऋ. प्रा.)*

** *यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धामतिष्टत । अत्र वो नृत्यनामिव तीव्रो रेणुरजायता ॥ (ऋग्. मं. १० अ ७२, ऋ ६) ।*

*** *अभिनोनुमः (ऋ. मं. ४ म. ३. सू—१ ऋ. ४)*

‡ *तत्वायामि ब्रह्मणा वन्दमान : (ऋ. मं. ३. अ—६ सू—२४)*

‡‡ *सुष्टुतिमीरयामि । (ऋ. मं. १. अ—४. सू—१—ऋ.—७)*
स्तवाय त्वा स्वाध्य : (ऋ. मं. १—अ. ४. सू—१६—ऋ. ८)
"भर्गो देवस्य धीमहि"—(गायत्री—मंत्र)

एक पुत्र पर जैसे पिता का वात्सल्य प्रेम होता है वैसा ही ऋषि अपने देव से माँगता है।* एक अन्य मंत्र में ऋषि देव को सखा, पिता, और पितृतम भी कहता है।** इन सम्बोधनों में भक्तिवृत्ति स्पष्ट झलकती है। स्नेहभावार्द्र एक ऋषि की भावाभिव्यक्ति है कि सर्वज्ञ को चाहती हुई मेरी वृत्तियाँ उसी प्रकार प्रभु की ओर जाती हैं जैसे गाएँ अपने बछड़ों के पीछे जाती हैं।‡

इन मंत्रों में ऋषियों के हृदय की प्रेमलक्षणा भक्ति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। देवों की महत्ता देखते-देखते ऋषियों के हृदय में गाढ़ भक्ति का संचार होता रहा। ऋग्वेद में प्राप्त मंत्रों का भक्ति तत्त्व भक्ति संप्रदायों के समर्थन के लिए अत्युपयोगी माना जा सकता है।

यद्यपि ब्राह्मण ग्रंथों में या वेद-संहिताओं में भक्ति शब्द का प्रयोग नहीं किया गया किन्तु उस समय की भक्तिपरक अभिव्यक्तियाँ नितांत दृष्टव्य हैं। जैसे ब्राह्मण ग्रंथों का अंतिम भाग ज्ञानकांड का प्रारंभ है वैसे ही ज्ञानकांड का पर्यवसान भक्ति कांड का प्रारंभ है। ऋचाओं के अध्ययन करने पर भक्तिपूर्ण सुमधुर भावों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

नवधा भक्ति के अंगों का संकेत भी वदमंत्रों में दृष्टिगोचर होता है।

श्रवण भक्ति--**"यो जातमस्य मकृता म हिं ब्रवत्सेहु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत्"**
(ऋ. मं. १ अ-१५६-मं. २)

कीर्तन भक्तिः--**"विष्णोर्नु कं वीर्याणि ब्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।"**
(ऋ. क. १-१५४-१)

वैदिक देवता इंद्र के प्रति स्निग्ध और रागात्मक भावों के कारण इन्द्र को माता-पिता आदि संम्बोधन दिये है। यह भक्ति का ही एक प्रकार है।अधिकतर विद्वानों की मान्यता है कि वेदों में इंद्र, वरुण, अग्नि, मित्र आदि देवताओं की पूजा अर्चना का विधान एकार्थ में ईश्वर भक्ति का ही विधान है। भक्तिभावबद्ध भक्त के लिये यह स्वाभाविक है कि वह अनेक में से किसी एक को खोज निकाले। एक ही देवता में सर्वदेवमयीभावना का वर्णन अनेक मंत्रों में उपलब्ध होता है।‡‡

---

* *"स नः पितवे सूनवे." (ऋ. मं. १ अ. १--सु. १ ऋ--८)*

** *"सखा पिता पितृतम :" (ऋ. मं. ४. अ. १. सू. ७)*

‡ *"परो में यान्ति धीतयो गावो न गंव्यूतिरंनु इच्छन्ती--*
चक्षुसं" (ऋ. मं. १. अ. ६ सू. २ मं. ऋ.-१८)

‡‡ *इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहरथो दिव्यः स सुपर्णों गरुत्मान्*
एकं सद् विप्राः बहुधा वदंत्याग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ऋ. १. १६४. ४६

भक्तिसूत्रों में शाण्डिल्य ने "भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः" कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि शाण्डिल्य ऋषि के अनुसार भी भक्ति का मूल वेदों में है। "विष्णु" शब्द ऋग्वेद में अनेकार्थक है, विशेषता यह है कि विष्णु को सर्वत्र दिव्य महान् और व्यापक शक्ति का प्रतीक माना गया है। कहीं "ऋतस्य गर्भम्" तो कहीं "यज्ञो ह वै विष्णुः" कह कर यज्ञ को विष्णुरूप माना गया है। विष्णु को कहीं इंद्र के सहायक देवता के रूप में भी वर्णित किया गया है।

भगवान विष्णु के नामसंकीर्तन का उल्लेख ऋग्वेद में प्रसिद्ध मंत्र में मिलता है :

तमुस्तोतार : पूर्व्यं यथाविद् ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन ।
आस्य जानंतो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।
(ऋ. १–१५६–३)

हे स्तुतिकारो ! अनादिसिद्ध यज्ञस्वरूप विष्णु को जिस प्रकार जानते हो उसी प्रकार स्तोत्रादि द्वारा उसे प्रसन्न करो। विष्णु के अपार नामों की महिमा का कीर्तन करो। हे विष्णो ! आप महान् हैं। आपकी सुमति का हम सेवन करते हैं।

उपर्युक्त मंत्र की भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न व्याख्या की जाती है। तथापि इस मंत्र को संकीर्तनपरक सभी ने स्वीकारा है। भाष्यकार सायणाचार्य भी 'विवक्तन' का अर्थ "संकीर्तन' (संकीर्तन करो) करते हैं।

प्रतते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्
तं त्वा गृणामि तवसम तव्यात् क्षयन्तमस्य रजसः पराके
(ऋग्वेद ७. सूक्त १००-५)

"हे विष्णो ! आपके नाम के उन सामर्थ्यों को जानकर उस प्रसिद्ध –श्रेष्ठ नाम का कीर्तन करूँगा। मैं क्षुद्र होने पर भी इस ब्रह्माण्ड के उस पार स्थित महान् ऐश्वर्य से युक्त आपका मैं कीर्तन करूँगा।"

उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं नोचेमानग्ये आरे अरभे च शृण्वते
(शुक्ल यजुर्वेद ३-११)

"जो दूर रहते हुए भी पास रहकर हमारी वाणी सुनते हैं। ऐसे परमात्मा की प्रसन्नता के लिए यज्ञ में जाते हुए हम लोग उनके नाम मन्त्र का कीर्तन करें।"

ऋग्वेद के प्रथम मंडल सूक्त १५४ के प्रारंभ के मंत्र में जीव ने प्रभु के अनंत चरित्रों का वर्णन करने में अपनी असामर्थ्य बता कर हीनता प्रकट की है। "आपके चरित्रों का वर्णन कैसे करूँ ?" इस कथन में कीर्तन भक्ति प्रकट होती है, क्योंकि प्रभु के चरित्रों का गान ही कीर्तन भक्ति है ।

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कमयादुत्तरं अधस्थ विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाय ॥

मंत्र में 'उरुगाय' पद से भी कीर्तन भक्ति का संकेत मिलता है। तथा विष्णु सूक्त के ध्रुवासो अस्य कीरयो जनासः (ऋग्वेद कां. ७-सू. १००-ऋक् ४) मंत्र में : अस्य–(विष्णु श्रीपुरुषोत्तम के) कीरय (कीर्तन करने वाले) जनासः (भक्तजन) ध्रुवासः (नित्य हैं) से स्पष्टतया 'कीरय' पद से कीर्तन भक्ति का स्वरूप ही सामने आता है। अथर्ववेद में भी "दोषोगाय बृहद्गाय द्युमद्धेहि अथर्वण स्तुहि देवं सवितारं" (अथर्ववेद कां. ६-सू. १-मं. १) वचन में कीर्तन भक्ति का उल्लेख मिलता है : हे अथर्वा के पुत्र दध्यङ! द्युमत् (तेजोयुक्त) बृहत् (ब्रह्मका) दोषा (रात्रि में) उ (दिन में) गाय (गान कर) धेहि (उस ब्रह्म को हृदय में धारण कर) सवितारं (उस वस्तुमात्र के उत्पत्तिकर्ता) देवं (देव की) स्तुहि (स्तुति करो)।

ऋग्वेदीय श्रुति के "विपन्यवो जागृवांस" उल्लेखानुसार कीर्तन भक्ति का यथार्थ बोधन होता है। इसके अनंतर आते मंत्र "तमुष्टुहि यो अन्तःसिंधौसुनुः" (अथर्ववेद कां ६-सू. १-मं. २) अर्थ : तमु (उस देव की) ष्टुहि (स्तुति कर) यहाँ भी "स्तुति" पद से कीर्तन भक्ति प्रतीत होती है।

काठक संहिता में दुंदुभि, भूमिदुंदुभि, वीणा, कांडवीणा, नाडी तूणव, वाण, शततन्तु इत्यादि नाम मिलते हैं। मैत्रायणी संहिता में कर्करी, तूणव और वीणा ये तीन नाम वाद्यों के प्राप्त होते हैं (मैत्रायणी संहिता ४-२-९ और ३-६-८)।*

वैदिक कर्म में गीत और वाद्यों का महत्व समान है। भक्ति के विषय में भी यही कहा जा सकता है। वैशंपायन संहिता में कहा है कि "सारे अधर्माचरण और पापाचरण करने वाला पुरुष भी विष्णु भगवान् के नामों के संकीर्तन से सारे पापों से मुक्त हो सकता है।"‡

वेद के ब्राह्मण–आरण्यकों में संगीत

ब्राह्मण-आरण्यक ग्रंथों के अनुसार यज्ञयागादिक में गान करने की विधि, वीणादि वाद्यों का व्यवहार एवं संगीत संबंधी पारिभाषिक शब्द प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

---

* *दुंदुभयो वदंति या दिक्षु वाक्तां तनावरुन्धते, भूमिदुंदुभिभवति यास्यावाक्तां तेनावरुंधते, वीणा वदंति या पशुषु वाक्तां तेनावरुंधते, कांडवीणा व दति यौषधिषु वाक्तां तेनाचरुंधते, वाणश्शतंतुर्भवति*

‡ *सर्वधर्म बहिर्भूतः सर्वपापरतस्तथा*
मुच्यते नात्र संदेहो विष्णोर्नामानुकीर्तनात्

'शतपथ ब्राह्मण' में 'उत्तरमंद्रा' का नाम प्राप्त होता है, जिसे प्राचीन ग्रंथों में मूर्च्छना के नाम से और आजकल 'मेल' या 'थाट' के नाम से हम पहचानते हैं। वीणा के तार के 'उत्तरमंद्रा' मूर्च्छना में मिलाने के विधान से (द्रष्टव्य : शतपथ ब्राह्मण १३-४-२-८ तथा ३-२-४-६) इस मूर्च्छना में शुद्ध स्वरों का प्रयोग संभावित है।

ग्रंथों में "षड्जे उतरमंद्रादौ रजनीचोत्तरायता' उल्लेख मिलता है। प्राचीन समय में षड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना का 'उत्तरमंद्रा' नाम आज भी सुप्रसिद्ध है। षड्ज स्वर से इस मूर्च्छना का आरंभ होता है।

ब्राह्मण ग्रंथों में वाद्यों के नाम भी प्राप्त होते हैं :

महते वीणावादनम्, क्रोशाय तूणवध्यम् , आक्रंदाय दुंदुंभ्याघातम्,
आपरपराय शङखध्यम्, ऋभुभ्यो जितसंधायम्, साध्येभ्यश्चर्मणम्
(तै. ब्रा. ३-४-१) ।

इस विधान में चारों प्रकार के वाद्यों के 'वीणा' 'तूणव' 'दुंदुभि' और 'शंख' नाम प्राप्त होते हैं। पूर्व में जिन वाण बाकुर भूमिदुंदुभि आदि वाद्यों के नामों का उल्लेख किया गया उनका वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। "वाण: शततन्तु भवंति" (तै. ब्रा. ७-५-३-२) वाण वाद्य में १०० तार होते हैं। तथा "दुंदुभि: वाचमवरुंधते भूमिदुंदुभिमेव" भूमिदुंदुभि वाद्य यज्ञभूमि के स्थल पर गड्ढा खोदकर उसके मुख को चर्माच्छादित कर बनाया जाता था। यज्ञयाग के अवसर पर इस भूमिदुंदुभि वाद्य को बजाने की रीति थी। (तैत्तिरीय आरण्यक ४-१-५)। इसी परंपरा के अनुसार आज भी हमारे यहाँ मंगल कार्यों में ढोल, नगारे आदि बजाने का रिवाज है।

सुषिर जाति के अर्थात् फूंक से बजने वाले वाद्यों में 'बकुर' वाद्य का युद्ध के समय बजाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। (तैत्तिरीय ब्रा. ३-४-७-१ तथा शतपथ ब्रा. ४-९)।

पारिभाषिक नामों में वीणा बजाने वाले को 'वीणावाद' तथा संगीत वृंद के मुख्य नायक के लिये 'वीणागणगीत' शब्द का प्रयोग किया गया है।

नृत्य के साथ भी वीणा, तूणव आदि वाद्यों के उपयोग किये जाने का उल्लेख मिलता है।*

---

* वीणावादं गणकं गीताय, यादसे शाबुल्याम्, नर्माय भद्रवतीम् तूणवध्मम् ग्रामण्याम्, पाणिसंघातं नृत्ताय, मोदयानुक्रोशकम्, आनंदाय तलवम्
(तै. ब्रा. ३-४-१)

उपनिषदों में संगीत और भक्ति

पाश्चात्य इतिहासकार तथा उनका अनुसरण करने वाले भारतीय इतिहासविद् भी उपनिषदों का समय ई. पू. ६०० से ८०० तक मानते हैं।

उपनिषद् साहित्य में भी संगीत संबंधी उल्लेख प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। छांदोग्य एवं बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में सामगान की पद्धति का पर्याप्त वर्णन है।

छांदोग्योपनिषद् के प्रथमाध्याय के आठ खंडों में सामगान का वर्णन मिलता है। यहाँ स्वरगान को उद्‌गीथ तथा गान करने वाले का नाम 'उद्‌गाता' कहा गया है। उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि "तद्य इमे वीणायां गायंत्येतं ते गायंति तस्मात्ते धनसनय:" अर्थात् वीणा द्वारा जो गान करते हैं वे परमात्मा का ही गान करते हैं और धनवान् होते हैं।

"यज्ञ के समय ब्राह्मण दो हाथ में वीणा धारण कर गायन कर रहे हैं। इस प्रकार का उल्लेख मिलता है,"* यज्ञ के समय ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों मिलकर वीणा बजायें ऐसा भी विधान उपलब्ध होता है।** तदुपरान्त गान करने वालों को पुरस्कार भी दिया जाता था। "अनोयुक्ते च शतं ददाति"*** (सौ गाड़े भरें उतना द्रव्य दिया जाता है)।

बृहदारण्यकोपनिषद् में वीणा और वीणावाद यानि वीणावादक‡ के अलावा दुंदुभि और शंख वाद्यों का भी नामोल्लेख मिलता है।‡‡

हंसोपनिषद् में चारों जाति के वाद्यों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं।‡‡‡ (१) चिणी (२) चिचीणी (३) घंटा (४) शंख (५) तंत्री (६) ताल (७) वेणु (८) मृदंग (९) भेरी (१०) मेघ।

इस प्रकार चारों जाति के वाद्यों का उपयोग जब अपने आराध्य अथवा इष्टदेव को प्रसन्न करने के हेतु किया जाता है तो उसे कीर्तन भक्ति से भिन्न नहीं माना जा सकता।

---

* ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ गायत: श्रिया वा उतद्रूपम् यद्वीणा श्रियमेवास्मिन् तद्दत: यदा खलु वै पुरुष : श्रियमश्नुते वीणास्मे वाद्यते तदाहु: यदुभौ गायेताम् ।।

** प्रभं शुकास्याच्छ्री स्यात् नवै ब्राह्मणे विरमत इति । ब्राह्मणोऽन्यो गायेत । राजन्योऽन्य:, ब्रह्म वै ब्राह्मण: ।।

*** (तै. ब्रा. ३-९-१४) (‡) वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीत: । (‡‡) बृह उप. २-४-७-९ ।

‡‡‡ चिणीति प्रथम:, चिर्चीणीति द्वितीय:, घंटानादस्तृतीय: , शंखनादश्चतुर्थी, पंचमस्तंत्रीनाद:, षष्ठस्तालनाद:, सप्तमो वेणुनाद: , अष्टमोमृदंग:, नवमे भेरिनाद:, दशमो मेघनाद: ।

गर्भोपनिषद् में सप्तस्वरों के नाम--षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद मिलते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् में "रसो वै स : रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनंदी भवति" अर्थात् वह परमात्मा रसरूप है और इस रस को प्राप्त करके जीव आनंद युक्त होता है। भक्तिमार्गीय वैष्णव संप्रदायों के सिद्धांतों के अनुसार रस आनन्दरूप ही माना गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद में भी "अद्वैत ब्रह्म को परमानंद रूप मान कर अन्य सभी प्राणी उसी आनंद की मात्रा--अंश का उपजीवन करते हैं"—यह कहा गया है।

भक्तिमार्ग के अनुग्रह के सिद्धांत का भी सूचन कठ और मुंडक उपनिषद् में मिलता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन।
यमेवेष वृणुते तेन लभ्यतस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

(प्रवचन के द्वारा या मेधा से या बहुश्रुतता द्वारा इस आत्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता है परन्तु जिस पर वह स्वयं अनुग्रह करता है वही उसे पा सकता है)

मुंडक उपनिषद् की भी एक श्रुति में भक्ति की सूचना हमें इन शब्दों में मिलती है: "उपासते ये पुरुषं ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तंते धीरा :" (जो निष्काम मनुष्य उस पुरुष की उपासना करते हैं, वे धीर व्यक्ति इस शुक्र के पार पहुंच जाते हैं। साक्षात् उपासना का यह एक उदाहरण पर्याप्त है।

'भक्ति' शब्द के संबंध में शास्त्री दुर्गाशंकरजी का मत दृष्टव्य है—

'भक्ति' शब्द का धात्वर्थ किसी का आश्रय लेना होता है। किंतु पाणिनि के व्याकरण सूत्र ४-३-९५ के अनुसार आश्रय के साथ–साथ स्नेह अर्थ भी भक्ति शब्द का होता है।

यास्क ने इंद्रभक्तीनि, अग्निभक्तीनि इत्यादि का अर्थ इन्द्र के आश्रय में और अग्नि के आश्रय में रहे हुए पदार्थ ऐसा अर्थ किया है। पाणिनि के टीकाकारों ने इस सूत्र की व्याख्या में 'भक्ति' शब्द का अर्थ यास्क के अनुसार स्नेह पात्र वाचक दिखलाया है। पाणिनि के मतानुसार 'ति' प्रत्यय क्रियावाचक है अतः 'भक्ति' शब्द का अर्थ क्रिया वाचक है जिसमें भाववाचकता भी है।

मूल 'भज्' धातु का अर्थ किसी का 'आश्रय लेना' और 'चाहना' तथा भक्ति शब्द का अर्थ आश्रयस्थान स्नेहपात्र के बारे में हमारी लगन या स्नेह होता है। कालांतर में 'भक्ति' शब्द का अर्थ स्नेह मात्र में रूढ़ हो गया। 'भक्ति' शब्द चाहे

जिस प्रकार प्रचार में आया हो किंतु श्वेताश्वतर उपनिषद् के "श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादयो" वाक्य में इस शब्द का ईश्वरानुरक्ति अर्थ स्पष्ट है।

गोपालतापनीय उपनिषद् के पूर्व भाग के दूसरे मंत्र को भी कीर्तन भक्ति का प्रतिपादक माना जा सकता है। "पंचपदी जपन्...ब्रह्म संपद्यते। कृष्णाय गोविंदाय गोपीजनवल्लभाय...सदानंदाय आनये" पंचपदीका जप–कीर्तन करते हुए पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है। यहाँ 'पंचपदी जपन' पद से कीर्तन भक्ति प्रतीत होती है। इस श्रुति वाक्य के अनुसार कीर्तन के दृष्टांततया अणुभाष्यकार इस प्रकार कहते हैं: "ओम्कारेणान्तरितं ये जपंति गोविंदस्य पंचपदं मनुं तेषामसौ दर्शयेदात्मरूपं तस्मान्मुमुक्षुरभ्यसेन्नित्यंशांत्यै[*]" भावार्थ: "ओम्कार युक्त गोविन्द के पंचपद मंत्र का जो कीर्तन करता है उसे गोपाल श्रीकृष्ण अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं।" अत: मुमुक्षुको उसी के नाम का कीर्तन करना चाहिये। अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि "तस्मादेनं नित्यमभ्यसेन्नित्यमभ्यसेत्।" (गो. ता. उप. पूर्व भाग मं. ३०) अर्थ: इसलिये इसका नित्य--सदा कीर्तन करते रहना चाहिये।

सूत्रों में संगीत और भक्ति

भारतेतिहास के पाश्चात्य तथा तदनुसारी भारतीय विद्वानों द्वारा सूत्रों का समय ई. पू. ४०० वर्ष माना जाता है। सूत्रों में कर्म के अंगभूत संगीत का वर्णन उपलब्ध होता है। सूत्रों में चूँकि कर्म संबंधी चर्चा सुविशद की गयी है अतएव प्रसंगोपात्त संगीत संबंधी सूचना भी कुछ अधिक विस्तार से उपलब्ध होती है।

लाध्यायन श्रोत सूत्र में सामगान के अवसर पर वाद्यों को कैसे बजाना और तदर्थ कैसे बैठना आदि के संबंध में सूचनाएं मिलती हैं:

"अलाबुवीणापि शीलवीणे च प्रतिमंत्रयेतालाबुवीणेऽपि शीली च यं मंत्रमधिजग्मतुस्तेनेदमुपगायतां ते साममहयेष्वत।"[†]

अलाबु वीणा और शील वीणा के पश्चात् उसके स्वरों द्वारा सामगान करना चाहिए।

पश्चिमेनोपगातृन् द्वे द्वे एकैका पत्नी कांडवीणां पिच्छोरं च व्यात्यासं वादयेत।[‡]

उपगाता के पश्चिम की ओर स्त्रियों को एक-दूसरे के सामने बैठा कर एक के हाथ में कांडवीणा और दूसरी के हाथ में पिच्छोरा बजाने के लिये देना चाहिये।

---

[*] *गो. पा. उपनिषद् पूर्वभाग मं. २५।*

[†] *लाध्ययन श्रोत सूत्र ४-२-४ (‡) लाध्यायन श्रोत सूत्र ४-२-५*

"उपमुखं पिच्छोरा वादनेन कांडमयीम्"*

पिच्छोरा मुख द्वारा और कांडवीणा नखी द्वारा बजायी जाती है।

"अपघाटिला इत्याचक्षते" इन दोनों वाद्यों की जोड़ी को अपघाटिला कहते हैं**

"ताः प्रतिमंत्रयेत यां पल्यपघाटिला मृदुलं वादयिष्यति"†

इस अपघाटिला (दोनों वाद्यों) को कोमलता से बजाना चाहिये।

"अलाबुवीणायां वक्राः कपिशीर्षयो च पूर्वस्यां द्वारि बहिसदसम्"††

अलाबुवीणा का शीर्ष भाग बंदर के मुख जैसा वक्राकार होता है।

इसी तरह महावीणा और शीलवीणा का उल्लेख भी इसी संदर्भ में उपलब्ध होता है।

ब्राह्मण ग्रंथों में वाणवाद्य का शततंत्री (१०० तार की वीणा आधुनिक सुरमंडल सदृश) वीणा के रूप में उल्लेख हुआ है।††† किन्तु शांख्यायन श्रोतसूत्र में इस प्रकार कहा गया है : "पलाश के दंड को बैल के चमड़े से मढ़कर दंड के मूल में दस छिद्रों में दस-दस तार लगाकर अग्रभाग में बांधे जाते हैं। और उसे वेतस (नेतर) या पलाश की दंडिका द्वारा बजाया जाता है।‡

लाध्यायन श्रोत सूत्र में भी शततंत्री वीणा का वर्णन उपर्युक्त शांख्यायन सूत्र के अनुसार ही है किन्तु अंतर इतना ही है कि शांडिल्य के मत में १० के स्थान पर तीन छिद्र और बीच के छिद्र में ३४ तथा अन्य दो छिद्रों में ३३-३३ तार बाँधे जाते हैं।‡‡

---

* लाध्यायन श्रौत सूत्र ४-२-६

** " " " ४-२-७

† " " " ४-२-८

†† " " " ४-२-१०

††† वाणः शततंतुर्भवति (तैं. ब्रा. कां. ७-५-९-२)

‡ अथैतां वीणां शततंत्रीम् उपकल्पयति। तस्या पालाशी सूना भवति। औदुम्बरी सूना पालाशी दंड : तमानुडुहेन सवरोहितेन चर्म्मणा बाह्यतो लोम्नाभिषी व्यंति तस्यै मूले दंडं दशधाति विध्यति। ता दश-दश रज्जु प्रवयंति। अग्रे नाना बंधंति दंडसमासा वीणा शततंत्री भवति वेतसशाखा सपलाशां वादिन्यूपकप्ता भवति (शांख्यायन श्रो. सू. १७-१-३)

‡‡ त्रिण्यिति शाण्डिल्यशतु स्त्रिशन्मध्यमे त्रयस्त्रिंशता पा मित इति (ला, श्रो. सू. ३)

इन तारों को क्रमश: 'भर्भुव: स्व:' स्वरों की तरह उत्तरोत्तर ऊँचे आवाज से मिला कर मंत्रोच्चार पूर्वक स्पर्श करने के बाद बजाना चाहिये। पश्चात् "प्राणायत्वे इति उध्वमुल्लिखेत् अपानायत्वेत्यवाचम्" अर्थात् प्राणायत्व मंत्र से उर्ध्व उल्लेखन (आरोहण) और "अपानायत्व' मंत्र से नीचे का उल्लेखन (अवरोह) करना चाहिये ।

सूत्रकालीन संगीत के विषय में पं. ना. मो. खरेजी का मन्तव्य उल्लेखनीय है——

" 'संगीत-सूत्र' नामक सरस्वती विरचित ग्रंथ यद्यपि आज लुप्तप्राय है । तथापि इसके दो पृष्ठ स्व. तनसुखराम त्रिपाठी को प्राप्त हुए थे। त्रिपाठीजी ने वि. सं. १९६९ में 'गुजराती' के दीपोत्सवी अंक में ये दो पृष्ठ प्रकाशित करवाये थे। इस ग्रंथ की टीका 'जयगोपाल चिंतामणि' नामक विद्वान् ने की है। जय गोपाल तैलंग था और सुप्रसिद्ध गो. श्री विट्ठलनाथजी का शिष्य था। जयगोपाल वि. सं. १६३२ के लगभग विद्यमान था। इस टीका को देखने से मालूम पड़ता है कि यह ग्रंथ भरतनाट्य से प्राचीन है, कदाचित् सूत्रकाल का भी हो सकता है।"*

एक जयगोपाल अष्टछाप के स्थापक श्रीमद् विट्ठलनाथजी के पौत्र भी हुए हैं। किंतु विश्वसनीय सूत्र के अभाव में उपर्युक्त उल्लेख में पं. जयगोपाल का समय १६३२ लिखा होगा। वे गोस्वामीजी श्री विट्ठलनाथजी के पुत्र श्री रघुनाथजी के पुत्र हैं और इनका समय वि. सं. १६३७-१७१२ तक माना जाता है। अत: हमारा अनुमान है कि जब ये वि. सं. १६५७ में कोकण प्रदेश में पधारे तब देवी भक्त मावजी को आपने प्रभावित किया था और वह आपका सेवक भी बना। इसी समय 'संगीत सूत्र' की प्राप्ति की संभावना लगती है। पश्चात् जब वि. सं. १६६४ में आपका ग्वालियर आगमन हुआ संभवत: तभी आपने इस ग्रंथ पर टीका लिखी होगी।

सूत्रों में संगीत के विवेचन के बाद अब हमें सूत्रों में भक्ति तत्त्व के स्वरूप पर दृष्टिपात करना चाहिये । याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है——

वीणावादनतत्वज्ञ: श्रुतिजातिविशारद: ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ।

"वीणा वादन के तत्त्व का जानकार श्रुति-जाति के ज्ञान में निपुण तथा तालज्ञ बिना किसी प्रयास के मोक्षमार्ग को पा जाता है ।"

ब्रह्मसूत्र के चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद में व्यासजी के 'स्मरंति' उल्लेख में–'भक्तजन सतत मेरा स्मरण करते हैं' साथ में जो 'च' और जोड़ा गया है उससे कीर्तन-श्रवण-भक्ति भी अभीष्ट है ।

---

* *गुजरातमां संगीतनुं पुनरुज्जीवन पृ. १७८*

भगवान् के नाम गुण और महिमा का गान करना ही कीर्तन भक्ति है । संगीत (राग, ताल और स्वर) में भगवद् गुणगान को हम कीर्तन-भक्ति के रूप में प्रस्तुत करना चाहेंगे । उपर्युक्त अर्थ के समर्थन में पद्मपुराणोक्त श्रीमद्भागवत माहात्म्य के षष्ठाध्याय का निम्नलिखित वचन उपयुक्त होगा—

"दृष्ट्वा प्रसन्न महदासने हरिं कृते चक्रिरे कीर्तनमग्रतस्तदा ।
भवो भवान्या कमलासनस्तु तत्रागमत्कीर्तनदर्शनाय ।
प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्तार्जुनोऽभूत ।
इंद्रोऽवादीन्मृदंगं जयजयसुकराः कीर्तने ते कुमाराः"

नारद भक्तिसूत्र में कहा है:—

संकीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभवयति च भक्तान् ।।८०।।

भगवान् का प्रेमपूर्वक कीर्तन करने से भगवान् शीघ्र प्रकट होते हैं और अपने भक्तों को शीघ्र अनुभव (दर्शन) कराते हैं ।

महर्षि शांडिल्यरचित भक्ति सूत्रों का वैष्णव भक्ति के निरूपण में महत्त्व पूर्ण स्थान माना जाता है । उनके सूत्र परंपरागत होते हुए भी कुछ नवीन तत्त्वों का निर्देश करते हैं । भावुकता की दृष्टि से नारद भक्ति सूत्रों में शांडिल्य की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप से एवं अन्य साधना मार्गों की तुलना में उत्कृष्टतया भक्ति का प्रतिपादन हुआ है । कुछ विद्वानों की धारणा है कि नारद भक्तिसूत्र परवर्ती रचना है । प्रेम के अनिर्वचनीय स्वरूप की परिभाषा देते हुए नारद भक्ति सूत्र प्रेम को भक्ति का अनिवार्य अंग मानते हैं । भगवत्प्राप्ति के साधनों में भगवान् के गुणों के श्रवण, स्मरण, कीर्तन आदि के विधान में प्रेमलक्षणा भक्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं । स्वयं भगवान् का ही कथन है—

नाहं वसामि वैकुंठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायंति तत्र तिष्ठामि नारद ।

यहाँ 'गायंति' पद से भगवद गुणों के गायन का महत्त्व स्पष्ट होता है ।

महाभारत-युग का संगीत और भक्ति तत्त्व

महाभारत में संगीत के पारिभाषिक शब्दों का विशेष प्रमाण तथा कोई विशिष्ट नवीन का निर्देश दृष्टिगत होता नहीं है तथापि संगीत का प्रसार और प्रचार उत्तरोत्तर आगे बढ़ता हुआ दिखाई देता है।

महाभारत के आदि पर्व में कच और देवयानी दोनों को "संगीत कला में प्रवीण" कहा है। कच को गायन, वादन और नृत्य में प्रवीण बताया गया है।[*] देवयानी का भी कच (विप्र) के सन्मुख गायन करने का उल्लेख किया गया है।[**] नितन्तु राजा की कन्या के कंठ-गान की उपमा ऐसी वीणा के मधुर आलाप से दी गयी है, जिसमें गान्धर्व स्वर उत्पन्न होता है।[†]

सभापर्व में इन्द्रसभा के वर्णन में गान करते हुए विद्याधर आदि गान्धर्वों तथा नृत्य-परायण मेनका, रंभा, उर्वशी इत्यादि अप्सराओं के नामोल्लेख प्राप्त होते हैं।[††]

कुबेर की सभा वर्णन में विश्वावसु, हाहा, हुहू, पर्वत, शैलूष, गीतहा, चित्रसेन तथा चित्ररथ आदि अनेक गान्धर्वों के उल्लेख मिलते हैं।[‡]

विराट् राजा के यहाँ अर्जुन षंढ रूप में स्त्री बनकर जाता है, तब अपने कार्य-ज्ञान का परिचय देते हुए कहता है—

नृत्यामि गायामि च वादयाम्यहं प्रानर्तने कौशल नैपुणं मम ।
तदुत्तरायाः परिधत्स्व नर्तने भवामि देव्या नरदेव नर्तकी ॥
(विराट पर्व श्लोक-१८-अ० ११)

विराट् पर्व में द्रौपदी के कंठ के वर्णन में "वीणेव मधुरालापा गांधारं साधु मूर्च्छंनी" कहा गया है। "गांधारं साधु मूर्च्छंनी" पद से वीणा के तार के सुर में से मूर्छना द्वारा गान्धार स्वर उत्पन्न होना कहा गया है।[‡‡] आज भी तानपुरे के मन्द्र खरज सुर के तार से गान्धार स्वर की सूक्ष्म ध्वनि निकलना प्रसिद्ध है।

---

[*] *गायन्नृत्यन्वादयंश्च देवयानीमतोषयत् ।*

[**] *देवयान्यपि तं विप्रं नियमव्रतधारिणम् ।*
गायन्ती च ललन्ती च रहः पर्यचरत्तथा (आदिपर्व-अ-७०)

[†] *वीणेव मधुरालापा गांधर्वस्वरमूर्छिता ।*
उत्तमा सर्वनारीणां भौमाश्चीह्यभवत्तदा ॥ (आदिपर्व० अ० २१४-४९)

[††] *सभापर्व अ० ७, श्लोक-२४-२५ ।* [‡] *सभा५र्व-अध्याय-१०*

[‡‡] *विराट्पर्व—अं० २२ : श्लोक-१२*

वाद्यों में मुख्यतः मृदंग, झांझ, भेरि, पणव, आनक, गोमुख, आडंबर, शंख और दुन्दुभी के नाम प्राप्त होते हैं । इन वाद्यों को बजाने वालों के कुशल और शिक्षित होने का उल्लेख भी किया गया है।[*] धर्मराज के राज्याभिषेक के समय गान्धर्वों तथा अप्सराओं का गायन, वादन-नर्तन एवं युधिष्ठिर तथा श्रीकृष्ण को जगाने के लिये गायकों द्वारा गान करने का भी वर्णन है।[†]

दक्ष कृत स्तुति में महादेव को "गीतवाद्यपरायण", "मुखवादित्रवादिने (मुखवाद्य नाम के वाद्य बजाने वाले) तथा "नर्तनशीलाय" (नृत्य में निपुण) इत्यादि विशेषणों से संबोधित किया गया है ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि महाभारत के समय में (१) राज्याभिषेक, विवाहादि एवं यज्ञयागादि जैसे शुभ सामाजिक तथा धार्मिक प्रसंगों में संगीत के कार्यक्रमादि आवश्यक माने जाते थे (२) रणभूमि में रणगान तथा रण-वाद्य जोर-शोर से बजाये जाते थे (३) गान, वाद्य और नृत्य में पारंगत लोग भी थे तथा (४) व्यावसायिक गायक-वादक लोग भी गायन-वादन और नर्तन करते थे (५) राजधानियों में गीत-नृत्य की शालायें थीं, जिनमें नगरजन शिक्षा प्राप्ति के लिये जाते थे। इस प्रकार इस समय संगीत के भौतिक (विलासमय) तथा आध्यात्मिक (पवित्र) दोनों स्वरूप दिखाई देते हैं ।

रामायण–कालीन संगीत

रामायण का समय भी ई.स. पूर्व तीसरी चौथी शती माना जाता है । वेद और उपनिषद् युग का संगीत प्रवाह इस समय में बहुत कुछ आगे बढ़ा हुआ दिखाई देता है । इनका अनुभव महर्षि वाल्मीकि के काव्यों में अनेक स्थलों पर होता है । बालकांड के छंदों में वीणा के साथ गान करने का उल्लेख एवं ताल में प्रवीण संगीतज्ञों का "तालापचराः" नाम भी दृष्टिगोचर होता है । महर्षि वाल्मीकि के शिष्यों में "लव" और "कुश" अच्छे संगीतज्ञ थे । जिन्होंने "पाठ्य" और "गेय" दोनों प्रकारों से रामायण का पठन और गान किया था।[‡] यही नहीं सातों

---

[*] मदंगाझर्झराभैर्यः पणवानगोमुखाः ।
आडंबराश्च शंखाश्च दुन्देभ्यश्च महास्वनाः ।।
वादयन्ति स्म संहृष्टा कुशलाः साधुशिक्षिताः ।। (दोणपर्व)

[†] शान्तिपर्व अ० ५२

[‡] पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् । (बालकांड, स० ४।८)

प्रकार की जाति से युक्त एवं वीणा के स्वर और लय से समन्वित होने का उल्लेख भी प्राप्त होता है ।*

मार्गी संगीत, जो अधिक प्राचीन माना जाता है, के गान का निर्देश "मार्ग विधान संपदा" पद में मिलता है ।‡

तदुपरान्त 'जातिभि:सप्तर्भिर्युक्तं' उल्लेख से (चार षाड्ज ग्रामिक और तीन माध्यम ग्रामिक) सात जातियाँ प्रयुक्त होने के विधान के अतिरिक्त विकृत या संसर्गज जातियों की कोई चर्चा रामायण में दिखाई देती नहीं है। किन्तु मालूम होता है कि उस समय जाति गान प्रचार में था, जिसे हम मार्गी-संगीत के रूप में पहिचान सकते हैं।

वाल्मीकि रामायण में निम्नलिखित अनेक पारिभाषिक शब्द प्राप्त होते हैं।

(१) स्थानमूर्छन, गान्धर्व, लय, गीत, मार्ग, जाति, नाटक
(बालकांड-सर्ग ४६)
(२) अयोध्याकाण्ड में:–गान्धर्व, गीत, समाज, श्रुति
(३) किष्किंधा काण्ड में–संगीत
(४) सुन्दर काण्ड में–आनोद्य, स्थान, स्वर, नृत्य और अंगहार
(५) युद्धकाण्ड में–रंग
(६) उत्तरकाण्ड में–मात्रा, कला, करण, समताल गीति, मूर्छना, प्रमाण और कलामात्राविशेषज्ञ ।

वाद्यों के नामोल्लेख निम्न प्रकार प्राप्त होते हैं:––

तत्वाद्यों के नाम:––

१ वीणा, २ मत्तकोकिला, ३ विपंची

सुषिर-वाद्यों के नाम:––

१. वेणु, २ शंख ३ भेरी

अवनद्ध जाति के वाद्यों नाम:––

१ दुन्दुभी २ पटह, ३ मृदंग, ४ डिण्डिम, ४ पणव, ६ मुरज, ७ मड्डुक, ८ आडम्बर, ९ चेलिका, १० कोण ।

---

* जातिभि: सप्तभिर्युक्तं तंत्रीलयसमन्वितम् ॥ (बालकांड, स० ४।८)

‡ ततस्तु तौ रामवच: प्रचोदितातगायनां मार्गविधानसंपदा ।
स चापि राम: परिषद्गत: शनैर्बभूषयासक्तमना बभूव ॥

घन-वाद्य में ताल

उपर्युक्त उल्लेखों में तत् वाद्य की प्राचीन वीणाओं में मत्तकोकिला और विपंची वीणा से भिन्न सारिकायुक्त किन्नरी वीणा का उल्लेख वाल्मीकि रामायण में प्राप्त नहीं होता।

रामायणकाल के संगीत के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि (१) इस समय में संगीत के बहुत से पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग आरंभ हो चुका था।

(२) राज्यों में एवं जनसमाज में धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में संगीत का सार्वत्रिक प्रचार था।

(३) गायक, वादक और नर्तक लोग व्यावसायिक दृष्टि से लोक-रंजन करते थे तथा धार्मिक कार्यों में भी रस लेते थे।

(४) गायक-वादक-नर्तकों को पुरस्कार देने की प्रथा भी थी।

(५) संगीत शाला, नृत्य-शालाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

रामायण युग में भक्ति-तत्त्व का समावेश भी संगीत की व्यापकता के साथ दिखाई देता है। भगवान् रामचंद्र की गाथाओं का सुस्वर में गान करने के विधान में कीर्तन-भक्ति स्पष्ट दृष्टिगत होती है। तथा उत्तरकांड में रावण के द्वारा साम-स्तोत्रों से की गयी शंकर भगवान् की स्तुति एवं दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में पुरोहितों ने साम श्रुतियों से पद्धतियुक्त और मधुर गान किया था। इन उदाहरणों से रामायण युग में भक्ति का निर्देश स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।

हरिवंश

हरिवंश को एक स्वतंत्र पुराण माना जाता है। परन्तु यह महाभारत का उत्तरकालीन एक विभाग होने से उसकी चर्चा इसी प्रकरण में करना हमने आवश्यक समझा है। हरिवंश के संगीत विषयक अनेक विधानों में से यहाँ उदाहरणार्थ कुछ पर विचार करेंगे।

"जिस समय यादव जलक्रीड़ार्थ समुद्र-तट पर गये, तब अपने साथ गायक वादकों और नटिओं को ले गये थे। जिनमें गन्धर्व और अप्सरायें भी थीं। जब श्रीकृष्ण ने 'छालिक्य' गान गाने की आज्ञा की, तदनुसार वे गाने लगे। नाना प्रकार के वाद्य भी बजाने लगे। जिनमें नारदीय (षड्जग्रामरागादि में प्रयुक्त होने वाली) वीणा की ध्वनि से चित्त आकर्षित होता था।‡

---

‡ 'आज्ञापयामास ततः स तस्यां निशि प्रहृष्टो भगवानुपेन्द्रः।
छालिक्यगेयं बहुसन्निधानं यदेव गान्धर्वमुदाहरन्ति ॥६७॥
जग्राह वीणामथ नारदस्तु षड्ग्रामरागादि समाधियुक्ताम्।

'छालिक्य' गान स्त्रियों और पुरुषों का समूह गान होता होगा। इस संबंध में 'छांदोग्योनिषद्' में कहा है कि अंगीरसमुनि ने जब भगवान् श्रीकृष्ण को वेदान्त की दीक्षा दी तब सामवेद के गायन का यह मर्म भी समझाया था। मालूम होता है इस मर्म द्वारा श्रीकृष्ण के छालिक्य नामक गेय प्रकार का आविष्कार हुआ होगा।

पश्चात् श्रीकृष्ण ने स्वयं हल्लीसक नृत्य हाथ में बंसी लेकर किया।* 'हल्लीसक' अर्थात् बहुभिः स्त्रीभिः सह नृत्यम्–बहुत सी स्त्रियों के साथ एक पुरुष का नृत्य करना होता है।†

श्लोक ७८ के अंतिम चरण में उल्लेख में 'ततः प्रवृत्ता च कुमारजातिः' का 'छालिक्य गान से गायन की अन्य जातियाँ उत्पन्न हुई' इस प्रकार का अर्थ भी विद्वानों में माना जाता है।

पश्चात् कहा है कि 'छालिक्य गायन के गुण और फल हिमालय पर्वत ही जान सकता है। अन्य कोई समर्थ नहीं है।'

क्योंकि छालिक्य गान में ६ ग्रामरागों की मूर्च्छनाएँ उत्पन्न होती है। इन मूर्छनाओं को यथास्थान मिलाकर गान करने के लिये तपश्चर्या का सूचन किया गया है। इनमें 'षड्जग्राम रागेषु' पद से ज्ञात होता है कि उस समय ग्राम-रागों का प्रचार था। तदुपरान्त 'आगांधार ग्रामराग'–जिनमें गांधार ग्राम तक के रागों का समावेश हुआ हो इस प्रकार का गीत तदतिरिक्त लयताल समंश्रुत्या उल्लेख का अर्थ लय, ताल, सम इत्यादि से युक्त होता है।‡‡

उस समय के वाद्यों के कुछ उल्लेखों में से कतिपय निम्न लिखित उदाहरण देखिए

"वल्लकी वाद्यमाना हि सप्तस्वरविमूर्छिताम्" वल्लकी वीणा में मूर्छना द्वारा सात स्वर उत्पन्न होते थे। पर्व–१–अ.४८।

---

* हल्लीसकं तु स्वयमेवकृष्णः सवंशघोषम् नरदेवपार्थ : ॥

† पाठांतर में, झल्लीसक' शब्द भी प्राप्त होता है किन्तु 'हल्लीसक' पाठ इस संदर्भ में हमें सुसंगत लगता है। 'झल्लीसक' नृत्य की व्याख्या इस प्रकार है—
निषादृर्षभादिसप्तस्वरयुतं वाद्य विशेषम्"
अर्थात्–'निषाद और ऋषभादि स्वरों से युक्त वाद्यविशेष' होता है।

‡ ज्ञातुंसमर्थोहिमवान् गिरिवा फलाग्रतोवागुणतोथवापि ।
शक्यं न छालिक्यमृते तपोभिःस्थाने विधानान्यथ मूर्छनासु ॥८१॥
षड्ज ग्राम रागेषु च तत्र कार्यं . . . . .।

‡‡ अध्याय-९२, श्लो. २४-२५

"नांदि च वादयामास प्रद्युम्नो गद एव च"–नांदि नामक वाद्य का प्रद्युम्न ने वादन किया । संगीतसार संग्रह, वाद्याध्याय–पृ. १७४ ।

हरिवंश में चारों प्रकार के वाद्यों का उल्लेख किया गया है।* चारों जातियों के वाद्यों के उपरान्त छलिक्य गान, ग्रामराग पद्धति, मूर्छना व्यवस्था, कथा प्रसंग आदि में संगीत की उपयोगिता विषयक वर्णन प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इस युग में भी धार्मिक एवं विलास व्यवहार में संगीत को आवश्यक मानने का प्रचार दिखाई देता है ।

महाभारत-युग का भक्ति प्रवाह

महाभारत के शान्तिपर्व और नारायणीय पर्व में भक्ति मार्ग के उद्भव की कल्पना स्पष्ट होती है। भीष्म पितामह ने जो पंचरात्र सम्प्रदाय की उत्पत्ति आदि का वर्णन किया है, उनमें भक्तिमार्ग की परंपरा अति प्राचीन होने की जानकारी है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि इस प्रकार अति प्राचीन साहित्य अंतर्धान भी हो गया है । नारायणीय पर्व से मालूम होता है कि उस समय का भक्ति धर्म भगवद्गीता में कहा गया है। भक्तिमार्ग की दृष्टि से गीता के समय से ही भक्ति मार्ग का निश्चित स्वरूप प्राप्त होना माना जाता है ।

शास्त्री दुर्गाशंकरजी ने लिखा है कि "भगवान वासुदेव ने वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग, आदि तत्कालीन साहित्य में से उत्तम तत्त्वों के निष्कर्ष निकाल कर अपनी असाधारण प्रतिभा से भिन्न-भिन्न विचारों का गीता द्वारा पूर्व प्राचीन युग के अपूर्ण अंशों में समावेश करते हुए सम्पूर्ण भक्तियोग का स्वरूप प्रकट किया। जिस समय त्याग, तपश्चर्या और याज्ञिक हिंसा से सांसरिक जनों के हृदय भग्न हो चुके थे, वे ईश्वर को मानते नहीं थे, केवल सम्पूर्ण नीति-पालन से ही निर्वाण प्राप्ति मानते थे, सामान्य प्रजा और समाज संरक्षण के लिये चिंतित रहते थे, उस समय भगवान् वासुदेव ने गीता-उपदेश द्वारा सांख्य, योग और कर्म एवं नीति से समन्वित निष्काम भक्तिमार्ग-धर्म प्रगट किया। कालक्रम परिवर्तनानुसार पूर्व के नारायण और विष्णु के समान गीताकार वासुदेव परमेश्वर रूप में पुजाने लगे। ‡

महाभारत में वासुदेव ही परमात्मा, परमपुरुष, नारायण, जगत्–सृष्टा और सर्वभूतों के आत्मा माने गये हैं। संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी उन्हीं की मूर्तियां कही गई हैं। नारायणीय पर्व में इस प्रकार भागवत और पांचरात्र धर्म के सिद्धांत दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकरण के अध्याय १९६ में भगवान् श्री कृष्ण

---

* "ततो घनं ससुषिरं मुरजानकभूषितम् ।
तंत्रीस्वरगणैर्विद्धानातोद्यानन्ववादयन् ॥ (पर्व–२, अ. ९३, श्लो. २२)

‡ वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास–पृ.१३

ने कहा है कि मैं नारायण हूँ और मैं ही विष्णु हूँ । महाभारत में नर-नारायण की एकता में अर्जुन को 'नर' और श्री कृष्ण को 'नारायण' कहा गया।

इस समय वासुदेव के चार व्यूहों की मान्यता भी प्रचलित थी। किन्तु कुछ ग्रन्थों का मन्तव्य है कि पूर्व में चार में से दो व्यूह 'वासुदेव' और 'संकर्षण' की भक्ति प्रचार में थी। पश्चात् चार व्यूहों की मान्यता प्रचार में आई होगी। गीता में केवल वासुदेव का ही उल्लेख प्राप्त होता है। अतः गीता का समय ईसा की छठी उताब्दी से पूर्व का माना जाता है । पाणिनि ने वासुदेव और अर्जुन का संयुक्त उल्लेख* किया है, इस आधार पर विद्वान् गीता का समय पाणिनि के पूर्व का होने का अनुमान करते हैं।

गीता केवल भक्ति मार्ग का साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं है। गीता अनन्य और अव्यभिचारिणी भक्ति के विचारों का प्राचीनतम एवं सर्वमान्य ग्रन्थ है। श्रीमद्-भगवद्गीता में अनेक स्थलों पर कीर्तन-भक्ति के विधान प्राप्त होते हैं।

अध्याय ९ श्लोक १४ में "सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः" में 'कीर्तयन्तःसततं' पद से कीर्तन-भक्ति स्पष्ट होती है। तथा दशम् अध्याय में 'कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च"–हमेशा मेरा कीर्तन करने वाले भक्त संतुष्ट होते हैं और आनंद प्राप्त करते हैं। इस श्लोक में 'कथयन्तः' पद से कीर्तन भक्ति का निर्देश प्राप्त होता है। अ. ७ के श्लोक २१ में "यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति' में अर्चन (पूजा) भक्ति तथा अ. ९, श्लो. १४ में वन्दन भक्ति (नमस्यन्तश्च मां भक्त्या) इसी अध्याय के २७ में श्लोक में निवेदन भक्ति, उपरान्त अ. १८ में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' कथन से प्रपत्ति (शरण) के लिए कहा गया है। इन विधानों से श्रीमद् भागवत और भक्तिमार्गीय ग्रन्थोक्त नवधा भक्ति वर्णन के सभी प्रकार गीता में प्राप्त होते हैं।

गीताकार भगवान् श्रीकृष्ण सामवेद के 'उद्गाता' भी हैं। श्रीकृष्ण संगीत के महान् ज्ञाता थे। स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'वेदानां सामवेदोऽस्मि।' इस प्रकार भगवान् ने सामवेद रूप से साम-संगीत की स्वरलहरियों से स्वकीय जनों के अनेक प्रकार के कष्ट दूर किये थे जैसे:—जरासंध की गदा से जब भीमसेन के गात्र शिथिल बन चुके थे तब साम गान द्वारा अपना हस्तांबुज फैलाकर उसे स्वस्थ बना दिया था।

भीष्म के बाणों से अर्जुन को जब जलन होने लगी थी तब भी भगवान् श्रीकृष्ण ने साम की ऋचाओं के गान द्वारा अग्निदाह दूर किया था। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने साम-गान की परंपरा को आगे बढ़ाकर उस समय के प्राचीन एवं अति प्रचलित वीणा, वेणु और दुन्दुभी वाद्यों में से वेणु को पसंद कर गान-परंपरा

---

* वासुदेवार्जुनाभ्यांवुन् ।४-३-९८। पाणिनि अष्टाध्यायी ।

को वाद्य-वादन में भी प्रकट किया। 'वेणु' वाद्य पसंद करने का व्यावहारिक कारण यह भी संभावित है कि उस समय 'वीणा' का वादन अधिकतर स्त्रियाँ और 'वेणु' का वादन प्रायः पुरुष करते थे। दूसरे अपने भक्तों के कष्ट–निवारणार्थ तथा निजानंद का सुख पान कराने के लिये अहर्निश साथ रह सके इसलिए भी 'वेणु' वाद्य को पसंद किया था।

वेणु के मधुर-नाद द्वारा गोचारण के समय संकेत दिया जाता था। यही नहीं वेणु की संगीत-सुधा द्वारा गायें अधिकाधिक प्रमाण में दूध देने लगती थीं। तदुपरान्त वेणु द्वारा साम गान के स्वरों को सुनते ही गायें और व्रजवासियों को कोई बीमारी नहीं रहती थी। इन्द्र-कोप से प्रलय जैसी मेघ-वर्षा के समय गोवर्धन पर्वत को वेणु की संगीत लहरियों के साथ उठाकर गोवर्धन और व्रजवासियों की रक्षा की।*

महारास के समय चल वस्तु अचल तथा अचल चल में परिवर्तित हो जाने और वेणु की स्वर माधुरी द्वारा स्फुरायमान होने का वर्णन श्रीमद्भागवत में सुप्रसिद्ध है। आज भी वृक्षों की वृद्धि के लिये, गायों में दूध-वृद्धि एवं कुछ रोग-निवारणार्थ भी संगीत स्वरों की महत्ता के विषय में वैज्ञानिक संशोधन हो रहा है। इन प्रयत्न में कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है।

सामवेद की 'राणायणी' संहिता की शिष्ट परंपरा अनेक प्रशाखाओं में विभक्त हो चुकी है, किन्तु विषयात्मक दृष्टि से उनके दो विभाग दिखाई देते हैं–(१) पूर्वार्चिक और (२) उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक विभाग में जो ग्राम गीतों का समावेश किया हुआ है उन ग्रामगीतों का भगवान् श्रीकृष्ण गोकुलादि ग्रामों में तथा आरण्यक गीतों का जब वन में पधारते तब रसास्वादन कराते थे। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण साम के उद्गाता व संगीत–कला-पारंगत थे।

महाभारत के समय की भक्ति और संगीत का स्वरूप श्रीकृष्ण के जीवन समय में ही अधिक स्पष्ट होता है। महाभारत के शान्ति पर्व में भागवत धर्म के नारायणीय सम्प्रदाय के वर्णन बाद "श्वेतद्वीप में नारद को स्वयं भगवान् के दर्शन होते हैं और वासुदेव धर्म का स्वरूप भगवान् उन्हें समझाते हैं, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत के नारायणीय पर्व में परमदेव वासुदेव के अतिरिक्त अन्य नाम भी प्राप्त होते हैं, जिनमें नारायण मुख्य है। अतः कई विद्वानों का कहना है कि नारायण की परंपरा वासुदेव से प्राचीन है। वासुदेव की उपासना का प्राचीनतर मार्ग पंचरात्र भागवत सम्प्रदाय है। विवाद को छोड़कर हम इस सिद्धांत का स्वीकार करते हैं कि विष्णुभक्ति के विकास में विष्णु, नारायण, वासुदेव और श्रीकृष्ण इस प्रकार क्रमिक विकास की परंपरा रही है क्योंकि नामभेद से परमदेवता में भेदबुद्धि रखना उचित नहीं है।

** या बंसी की फूलं पे गरिवर लियो उठाय।*

नारदीय-शिक्षा

'नारदीय शिक्षा' का समय सामान्यतः ई. स. ३०० वर्ष पूर्व का माना जाता है। क्योंकि उनमें वेदकालीन संगीत का उल्लेख किया गया है किन्तु इसके प्रथम-पाठक में जो श्रुति के उल्लेख प्राप्त होते हैं उन का गर्भित अर्थ जो स्वर-भाग किया गया है, ऐसा अर्थ ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक के किसी ग्रन्थ में दिखाई देता नहीं है। "दत्तील' और 'भरत' ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में 'श्रुति' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु उपर्युक्त अर्थ में नहीं । अतः विद्वान् उनका निश्चित समय कह नहीं सकते परन्तु ईसा की चतुर्थ शताब्दी पहिले का रचनकाल तो मानते ही हैं। इसे कुछ विद्वान् महर्षि नारद की नहीं किन्तु कोई अन्य नारद की रचना करते हैं। किन्तु हमें लगता है कि संगीत के प्राप्त ग्रन्थों में संगीताचार्य देवों की नामावली में महर्षि नारद का ही उल्लेख किया गया है। नारदीय वीणा भी महर्षि नारद की ही वीणा मानी जाती है। संगीत विषयक अनेक विधानों में महर्षि नारद ही माने गये हैं। अतः इस ग्रन्थ के कर्ता स्वयं महर्षि नारद होना अधिक वास्तविक कहा जायगा। रचना काल के संबंध में कुछ भी मत-भेद हो किन्तु हमारी दृष्टि से ईसा की शताब्दी के आरंभ के लगभग का समय माना जाना उचित होगा।

इस ग्रन्थ में सामवेद के स्वरों की चर्चा की गई है। स्वयं ग्रन्थकार ने कहा है कि 'नारदीय शिक्षा कोई बड़ा ग्रन्थ नहीं है किन्तु उत्तम वेदांग की चर्चा सुनने योग्य है।'*

नारद ऋषि ने इस ग्रन्थ में तान, राग, स्वर, ग्राम, मूर्छनादि के पवित्र, पावनकारी और पुण्य-लक्षण बताये हैं।**

(इनमें 'राग' शब्द का प्रयोग दिखाई देता है परन्तु इस ग्रंथ में राग-लक्षणों का उल्लेख किया नहीं है। क्योंकि राग शब्द वर्तमान अर्थ में उस समय अस्तित्व में ही नहीं था । यह १० वीं शताब्दी के पश्चात् ही दृष्टिगोचर होता है।)

तीसरे श्लोक में सप्त स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छना तथा उनचास तानों का स्वर-मंडल बना हुआ कह कर सात स्वरों के नामों के स्पष्ट उल्लेख के साथ

---

* अल्पग्रंथ प्रभुतार्थं श्रव्यं वेदांगमुत्तमम् ।। प्र. १-२-१।

** 'तान-राग-स्वर-ग्राम-मूर्छनानां तु लक्षणम् ।
पवित्रं पावनं पुण्यं नारदेन प्रकीर्तितम् ।।२।।

षड्ज ग्राम, मध्यम-ग्राम और गान्धार ग्राम का विधान भी* किया है।

स्वर-वर्ण के विधान में षड्ज का वर्ण कमल के समान, ऋषभ का शुक के रंग के समान, गान्धार का सुवर्ण जैसा, मध्यम का मोगरे के पुष्प जैसा, पंचम का श्याम, धैवत का पीत और निषाद का सर्ववर्ण** कहा है।

पंचम कंडिका में पशु-पक्षी की आवाज के साथ सात स्वरों की ध्वनि की तुलना निम्न प्रकार की है–"षड्ज स्वर मयूर, ऋषभ स्वर गाय, गान्धार स्वर भेड, मध्यम कौंच पक्षी, पंचम स्वर (वसंत के समय) कोकिल, धैवत स्वर अश्व और हाथी निषाद स्वर का उच्चारण‡ करता है।

षष्ठ कंडिका में साम गान के लिये 'दारवी' और 'गात्रवीणा' का उपयोग कहा है।' जिस वीणा पर सामवेद गायक गाते हैं उस स्वरों और व्यंजनयुक्त, करांगुलियों और अंगुष्ठ द्वारा रंजन करती हुई वीणा को 'गात्र-वीणा' कहते हैं।‡‡

---

* 'सप्तस्वरास्त्रयोग्रामा मूर्छनास्त्वेकविंशतिः ।
तानां एकोनपञ्चाशदित्येतस्वरमंडलम् ।।४।।
षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा ।
पंचमो धैवतश्चैव निषाद सप्तम स्वराः ।।५।।
षड्जमध्यमगान्धारस्त्रयो ग्रामा प्रकीर्तिताः । (प्र. १, कं. २)

** 'पद्मपत्रप्रभः षड्ज ऋषभं शुकपिञ्जरः ।
कनकाभस्तु गान्धारः मध्यमः कुंदसंप्रभः ।।१।।
पञ्चमस्तुभवेत्कृष्णः पीतकं धैवतं विदुः ।
निषादः सर्ववर्णः साहित्येसा. स्वरवर्णिताः ।।२।। (१.३–१.२)

‡ 'षड्ज वदति मयूरो गावो रम्भति चर्षभम् ।
अजाविके तु गान्धारं कौञ्चो वदति मध्यमम् ।।३।।
पुष्पसंधारणे काले कोकिला वक्ति पञ्चमम् ।
अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति कुञ्जरः ।।४।।

‡‡ 'दारवी गात्रवीणा च द्वे वीणे गानजातिषु ।
सामिकी गात्रवीणो तु तस्याः शृणुत लक्षणम् ।।१।।
गात्रवीणा तु सा प्रोक्ता यस्यां गायन्ति सामगाः ।
स्वर-व्यंजन-संयुक्ता-अङगुल्यङगुष्ठरञ्चिता ।।२।। (कं ६)

सामगान के आरंभ के पूर्व गायत्री मन्त्र का गान भी आवश्यक कहा है।* प्रथम ओं कार का उच्चारण करना, पश्चात् भूः भुवः स्वः ये तीन व्याहृती के बाद 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्' मंत्र का गान करना। पश्चात् सामगान का आरंभ करना।

तदुपरान्त गान्धर्व शब्द के अक्षरों के विषय में कहा है कि** 'ग कार से गेय, ध कार से कारु वहन और 'व' कार से वाद्य वादन लक्षित होता है। इस गान्धर्व गान से गान्धर्वों को आनंद होता है। तदतिरिक्त करांगुलियों का क्रम, मात्रा, मेल, स्वरांतर इत्यादि साम-गान विषयक माहिती का ठीक-ठीक वर्णन इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

---

* 'प्रणवं प्राक्प्रयुञ्जीत व्याहृतीस्तदनन्तरम् ।
सावित्रीं चातुवचनं ततो वृतान्तमारभेत्" ॥ (कं. ६-४)

** 'गेति गेयं विदुः प्राज्ञा धेति कारुप्रवाहनम् ।
वेति वाद्यस्य संज्ञेन गान्धर्वस्य विरोचनम् ॥१२॥

पौराणिक युग

भक्तिधर्म के इतिहास में श्रीमद्भगवद्गीता, नारायणी धर्म तथा पंचरात्र संहिताओं के उपरान्त भागवतादि पुराणों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। विद्वान् पुराणों का निर्माणकाल ईसा पूर्व दूसरी शती से ग्यारहवीं शती तक मानते हैं।

पुराणों में मुख्यत: श्रीमद्भागवत के अलावा गरुड़, अग्नि, मत्स्य, कूर्म, मार्कण्डेय, पद्म, विष्णु, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म, नारदीय, वामन पुराण आदि हैं। इनमें विष्णु पुराण और भागवत को प्राधान्य दिया जाता है। पौराणिक युग में भक्ति तत्त्व के अनेक विधान उपलब्ध होने के कारण भक्ति मार्ग का स्वरूप और विकास स्पष्ट दिखाई देता है।

विष्णु पुराण में कहा है कि 'जिस प्रकार अग्नि से सुवर्णादि धातुओं का मल नाश होता है उस प्रकार भक्तिपूर्वक किया हुआ* भगवत्-कीर्तन सभी पातकों का नाश करने का उत्तम साधन है। कीर्तन भक्ति से केवल मल अर्थात् पापों का ही नाश होता है, यही नहीं इससे भी आगे बढ़कर महत्त्व का उल्लेख यह है कि 'सत्ययुग में ध्यानादि से, त्रेतायुग में यज्ञादि भजनों द्वारा तथा द्वापर में पूजनादि उपासना द्वारा जो फल प्राप्त होता है, यह फल कलियुग में केवल केशव भगवान् के कीर्तन (गुणगान) मात्र से प्राप्त होता है।**

गरुड पुराण के अनुसार यदि आत्मज्ञान तथा आत्मज्ञान से परमपद प्राप्त करने की इच्छा हो तो गोविंद भगवान् का कीर्तन (गुणगान) करो।†

वैष्णव पुराणों में भागवत पुराण का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। भागवत में भक्ति के विविध अंग प्रकार दृष्टिगत होते हैं। इनमें साधन भी भक्ति और साध्य भी भक्ति होने का सिद्धांत दिखाई देता है। नौ प्रकार की अर्थात् नवधा भक्ति और दसवीं प्रेमलक्षणा भक्ति को स्पष्ट करते हुए भक्ति के अनेक विधान प्राप्त होते हैं। इनमें भगवद्गुणानुवाद रूप कीर्तन भक्ति को ही कलियुग

---

* *यन्नाम कीर्तनं भक्त्या विलापनमनुत्तमम् ।*
मैत्रेयाशेष पापनां धातूनामिव पावक: ।। वि. पु. ६।८।२०

** *"ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।*
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ।। वि. पु. ६।२।१७

† *यदिच्छसि परं ज्ञानं ज्ञानाच्च परमं पदम् ।*
तदा यत्नेन महता कुरु गोविंदकीर्तनम् ।।

में सरल, सुगम और सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा गया है। कीर्तन का आशय है भगवान् के नामों का, भगवद् चरित्रों का और भगवद् महिमा का गायन, वादन और नृत्य द्वारा प्रेम पूर्वक भगवान् में मनोवृत्ति को एकाग्र करना।

श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति का सांग उल्लेख है––

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।। *

उपर्युक्त श्लोक में प्रारंभ में ही श्रवण और कीर्तन भक्ति को स्थान दिया गया है। श्रवण का फल कीर्तन ही सिद्ध होता है। प्रथम स्कंध में भी (श्रोतव्य: कीर्तितव्यश्च) दशविध लीलायुक्त प्रभुका श्रवण और कीर्तन करने का उल्लेख है।**

संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभि:: इस विधान में भी कीर्तन-भक्ति की महत्ता स्पष्ट है।† 'यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्' इस वाक्य में उत्तमश्लोक प्रभु के गुणानुवाद के श्रवण और गान करने का स्पष्ट संकेत है।†† क्योंकि इस श्लोक में आश्रम, तप, वेदान्त-श्रवण, यज्ञादि सर्व धर्म का फल प्रभु के गुणों का गान (कीर्तन) करना ही कहा गया है।‡ तदुपरान्त 'तत्रान्वहं कृष्णकथाप्रगायतां' (कृष्णकथा चरित्रादिक जो गान करते हैं) तथा 'गृह्णन्ति गुणनामानि' (बार-बार भभु के नामों का कीर्तन गान करता है) इन वाक्यों में कीर्तन भक्ति का स्पष्ट दर्शन होता है।‡‡ एकादश स्कंध में भगवान् ने स्वयं कहा है––

विलज्ज ते उद्‌गायति नृत्यते च मद्‌भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥ ‡‡‡

जो लोक लज्जा को छोड़कर उच्च स्वरों से गान करता है, नृत्य करने लगता है, ऐसा भक्त समस्त लोकों को पवित्र करता है।

महाभारत में भागवत धर्म विषय में कथा आती है कि इस धर्म को नारद ने स्वयं नारायण से ग्रहण किया था। भागवत धर्म को प्रतिष्ठित करने के विषय में भागवत पुराण में कहा गया है कि जब व्यास जी ने देखा कि महाभारत और गीता में भक्ति का यथार्थ रूप नहीं निखर पाया और भक्ति पक्ष की स्थिति

---

* भा. स्कं. ७/५/२३

** भा. स्कं १ अ २ –श्लो. २४ ।

† स्कं. १/५/२८।

†† स्कं. १/५/१२

‡ इदं हि पुंसस्तपस: श्रुतस्य ----। यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्

‡‡ स्कं. १/५/३५।

‡‡‡ स्कं. ११/१४/२४।

संतोषजनक न होने से कोरा नैष्कर्म्य शोभा नहीं देता तब उन्होंने नारद के सम्मुख अपने मनका उद्वेग प्रकट किया और उसी की पूर्ति के लिए भक्ति-रस प्रधान भागवत पुराण की रचना की।* भक्ति मार्ग की प्रतिपादक शांडिल्य भक्तिसूत्र एवं नारदभक्तिसूत्रादि रचनाएं बाद की मानी जाती हैं। वासुदेव भक्ति का तात्त्विक निरूपण महाभारत काल से ही स्वीकृत किया है।**

भक्ति तत्त्व का ऐतिह्य-क्रम से विचार करने पर वैष्णव धर्म का प्रारंभिक रूप विष्णुपूजा के रूप में भागवत धर्म प्रतिपादक नारायणीय सात्वत याने पंचरात्र धर्म की शाखाओं द्वारा दृष्टिगत होता है। ये नारायण अथवा श्रीकृष्ण की उपासना के सम्प्रदाय माने जाते हैं। डॉ. बूलर के मतानुसार ये सम्प्रदाय जैन धर्म के पूर्व अर्थात् ईसा के पूर्व आठवीं शताब्दी के हैं।‡ पाली साहित्य के फ्रेंच विद्वान सेनार्ट ने कहा है कि विष्णुभक्ति के तत्त्वों तथा कथानकों को बौद्ध साहित्य में भी संग्रहीत किया गया है।‡‡

महाभारत युग में हम नारायणीय सम्प्रदाय का उल्लेख कर चुके हैं। ऐतिह्य दृष्टि से वासुदेव स्वयं श्रीकृष्ण और संकर्षण बलराम माने गये हैं। नारायणीय के पश्चात् द्वितीय धर्म सात्वत धर्म कहा जाता है। महाभारत में भी सात्वतों का उल्लेख हुआ है। श्रीमद्भागवत में भी सात्वत धर्मानुयायियों के अनुसार भगवान् वासुदेव की पूजा का वर्णन प्राप्त होता है।†

तंत्र-ग्रंथों में पद्मतंत्र में भागवत धर्म से ही ऐकान्तिक धर्म का प्रचलन वताया है।†† यह धर्म सात्वत धर्म का ही एक रूप कहा जाता है। सात्वत अथवा वासुदेव धर्म का सर्व प्रथम उपदेश अर्जुन को वासुदेव श्रीकृष्ण ने दिया था।††† यहाँ वासुदेव और श्रीकृष्ण पृथक् नहीं, किन्तु एक ही सिद्ध होते हैं।

सात्वत धर्म में बाद में पंचरात्र का विकास होता है। महाभारत में कहा कहा गया है कि इस धर्म का नारायण ने श्रीमुख से गान किया था। चार वेद और सांख्ययोग के समन्वय से पंचरात्र नाम उपलब्ध होना माना जाता है। धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर ऐसा समझा जाता है कि बौद्धों

---

* *भागवत स्कं. १ अ. ४–५*

** *सूरदास। भक्ति का विकास। पं. रामचन्द्र शुक्ल पृ.–१६–*

‡ *B.C. Indian Antiquary* (*Vol. XXIII P.* 248 (1894)

‡‡ *Sanorta. The Indian Interpreter. Jan.* 1910 *P.* 177 *Octo.* 1909

† *श्रीमद्भागवत स्कं. ९ अ. १० श्लोक–४९ ।*

†† *सूरिः सुहृद् भागवतः सात्वतः पंचकालविदः ।*
एकान्तिकस्तन्मयश्च पंचरात्रिक इत्यपि ।।४।२।८८।

††† *महाभारत शान्ति पर्व अ. ३४७।४८*